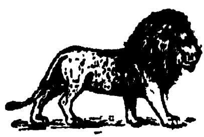
धर्म-कल्पद्रुम

[कहानी-संग्रह]

लेखक:—

रेन्द्र प्रसाद

अलीगंज, (एटा) उ० प्र०



१९७४

२५०० वें वीर-निर्वाण-महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रसारित

प्रकाशक —

म हा वी र प्र का श न

अलीगंज (एटा)

प्रथम संस्करण ५००

मूल्य — [illegible]

सविनय समर्पित

जिन्होंने मुझे बचपन में पल्लवित किया

उन्हीं वत्सलता की प्रति-मूर्ति बाबाजी

स्व० लाला श्री प्रागदास जी जैन

की स्मृति में···

—वीरेन्द्र

लेखकीय

पुराण कहते हैं कि खण्ड प्रलय के पश्चात दशलाक्षणिक धर्माराधना के द्वारा नये जव-जीवन का सूत्र-पात किया गया था। और यह होना भी चाहिए। जीवन के शुभारम्भ में मंगलाचरण रूप धर्माचरण से चरम मंगल परम नि.श्रेयश की ओर अग्रसर होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। किन्तु आज यदि धार्मिक दृष्टि से देखा जाय तो जन-जीवन बड़ा असंयत और भ्रष्ट प्रतीत होता है। सचमुच इसमें परि-वर्तन लाने के लिए धर्म के नए सिरे से सूत्र-पात करने की महती आवश्यकता हैं।

अपभ्रंश महाकवि श्री रइधू के अनुसार क्षमा की उर्वरा भूमि पर ही धर्म का कल्प-वृक्ष उदय को प्राप्त होता है। जिसके सुकोमल पत्ते मानो मान रहित मृदुल मार्दव धर्म की लहराती पताकाओं का प्रसार ही हैं। सीधी-सादी सरलता-सी शाखा रूप आर्जव धर्म ही मानों लम्बायमान है। सत्य-शौच इस धर्म कलप-वृक्ष की मानों जड़ें हैं। यथार्थ ही सत्य और शुचिता मूल पर ही धर्म कल्प-तरु खड़ा रह सकता है। संयम धर्म इसके पल्लव से प्रतीत होते है और तप पुष्पों की पंखुड़ियां तथा त्याग मानों इसका पराग है और आकिंचन्य धर्म विशाल एव घना तना ही है। ब्रह्मचर्य इस धर्म कलप-तरु की सुन्दर शीतल छाया है। भव्य पक्षि-वृन्द इसका सेवन करके आत्म-कल्याण करते हुए मोक्ष फल प्राप्त करते हैं—इससे अधिक महिमा और क्या हो सकती है इस धर्म कल्प-तरु की ?

उत्तम क्षमा से लेकर ब्रह्मचर्य तक सुनियोजित दशलाक्षणिक धर्म आराधक को स्वरूपी आत्मस्वरूप की ओर बढ़ाते हैं और वस्तु स्वरूप

रूप अभेद धर्म का उद्घाटन करते हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम स्व-समय का लाभ लें। आत्मालोचन कर धर्म साधन करें। किन्तु सम्प्रति समय में हमारी दशा बिगड़ रही है, और हम धर्माराधनासे कुछ वंचित से हो रहे हैं। देखिए न जैसे-जैसे जनसंख्या दिनों दिन बढ़ रही है, वैसे वैसे वृद्धि के विपरीत हमारे धर्मायतनों मन्दिरोंमें दर्शकों और आराधकों की संख्या दिनों दिन घट रही है।

धर्म तो धर्मात्माओं से ही चलता है। अतः धर्मात्माओं का ह्रास होना चिन्ता का विषय है। हम लोग हजारों लाखों रुपये धर्म के नाम पर खरचते हैं। दुर्भाग्य से उनमें अधिकांश मिथ्या प्रदर्शन में ही व्यय हो जाता है। इसके विपरीत कुछ ठोस कार्य होने चाहिए। यानी नई पीढ़ी को धर्म-शिक्षा देने के लिए कुछ प्रभावक कदम उठाये जाने चाहिए।

सुरुचि पूर्ण धार्मिक साहित्य का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार होना चाहिए। हमारा यह प्रस्तुत प्रयत्न इसी दिशा में एक तुच्छ चरण है। यदि यह कहीं किंचित भी कारगर हुआ तो समझिए, मील-पत्थर हो गया।

दशलाक्षणिक धर्मों में प्रत्येक धर्म पर एक या अनेक कहानियाँ दे दी गई हैं। पढ़िए, आनन्द लीजिए अर्थात मनोरञ्जन कीजिए—और सच्चे धार्मिक जीवन की प्रेरणा लेकर सज्जीवन का निर्माण कर परमहित साधिए।

— वीरेन्द्र

★ क्षमा के ज्योतिर्स्तंभ ! ★

क्षमा का ज्योतिर्स्तंम्भ !

कितना धवल, नवल एवं सबल ?

जिसने एक जन्म में ही नहीं, जन्म-जन्मान्तरों में कुपित होने—उत्तेजित होने के विरोधी कारणों की उपस्थिति में भी राशि-राशि क्षमा के सम्बल को नहीं छोड़ा, अपितु क्षमा का अद्भुत आदर्श समुपस्थित किया, नीलाभ प्रकाश-पुञ्ज भद्र-व्यक्तित्व के नेत्र-पटल पर चमचमा रहा है। यह चमचमाहट भी कितनी मनोहारी है जिसमें तिलमिलाहटका नामोनिशाँ तकनहीं।

मरुभूति सरल सज्जन, कमठ दुर्मति; दुर्जन ! दोनों सहोदर ! पोदनपुर सम्राट अरबिन्द के राजमंत्री विप्र विश्वभूति व ब्राह्मणी अनुन्धरी के तनय। विश्वभूति विरक्त हुए और बन गए सुमुनि ! नीति निपुणता से उत्तराधिकार मिला अनुज मरुभूति को। वज्रबीर से युद्ध हेतु मंत्री मरुभूति सम्राट के साथ बाहर गया। पीछे अग्रज कमठ ने मायाचारी से मरुभूति-पत्नी विसुन्दरी जो कि विशेषतः सुन्दर थी; के साथ बलात्कार किया। नृप व मंत्री के वापिस आने पर सब सम्वाद उन्हें ज्ञात हुआ। सम्राट ने विसुन्दरी के शील भंग करने के गुरुतर अपराध में कमठ का शिर मुडवाया, मुख काला करवाया और उल्टा गर्धभ पर बैठाया तथा नगर व राज्य से बहिष्कार कर दिया। भूतचाल पर जाकर वह अविवेकी वैराग्यहीन तापसी हो गया। एक भारी शिला उठाए जबकि वह हठ योग साधन कर रहा था, तब मरुभूति भ्रातृ-मोहवशात् उससे मिलने गया, किन्तु दुर्बुद्धि कमठ उसे देखते ही आपे से बाहर हो गया और ज्यों ही मरुभूति

प्रणाम हेतु लचा कि उस कोप-कसाई ने शिला मरुभूति पर डाल दी। इस बज्र प्रहार से सरल मरुभूति अकाल-काल-कवलित होने से मलय देश के कुब्जक सल्लिकीवन में वज्रघोष हाथी हुआ। देखो विधि की विडम्बना कमठ शठ की पत्नी वरुणा मरकर वज्रघोष की मदमत्त हथिनी हुई। अरविन्द नृपति को जब मंत्री मरुभूनि मरण का वृत्त ज्ञात हुआ, तो वे संसार की निस्सारता देख विरक्त हो साधु हो गए। संयोग की बात ससघ शिखिर जी की वन्दना हेतु जाते हुए इसी बन म आए। काल कराल-सा हाथी उन सामायिक प्रतिमा योग लीन मुनिराज पर झपटा, किन्तु उनके वक्षम पर श्रीवत्स चिन्ह देखकर हाथी सहम गया। जाति स्मरण हो गया। अवधि ज्ञानी मुनिराज भी सब बात समझ गए और उन्होंने सज्ञी पंचेन्द्रिय हाथी को धर्मोपदेश दिया श्रावक के व्रत दिलाये। हाथी का काया-कल्प हो गया वह व्रतोपवास करता; सूखेपत्ते खाता, सूर्य किरणों से संतप्त उष्ण जल पीता। एक दिन वह वेगवती नदी में तृषा शमन को गया कि कीचड़ में फंस गया। उधर मरुभूति के हनन से अन्य तापसियों ने कमठ दुष्ट का बहिष्कार कर दिया अब वह दस्यु बन गया। आयु पूर्ण कर कुक्कुट विषधर (सर्प) हुआ, जिसने पंक फँसे बज्रघोष हाथी को देखते ही पूर्व संस्कार वशात् अतिशय क्रोधित हो डस लिया, किन्तु धर्म ध्यान में समाधिस्त हो गज ने प्राण विसर्जन किए और सहंस्रार स्वर्ग में देव हुआ। क्षमा का अद्भुत प्रभाव है। सुदीर्घकाल तक स्वर्गिक सुख भोग भोगकर पूर्व विदेहके पुष्कलावतो देश संस्थित त्रिलोकोत्तमपुर में मरुभूति का जीव रश्मिवेग नामका राजकुमार हुआ। राजसुख भोग काललब्धि पा विरागी हो समाधि गुप्त मुनिराज के पास उसने मुनि-दीक्षा धारण कर ली। हिमगिरि की गुफा में मुनि रश्मिवेग समाधि लगाए जब अकाम निर्जरा कर रहे थे, उस समय कमठ का जीव जो हाथी को डसने के बाद मरकर धूमप्रभा नर्क के दुख भोग पुनः अजगर हुआ, जिसने आकर मुनिराज को पूर्व के

खोटे संस्कार वशात् महान कुपित हो निगल लिया। क्षमाधार प्रशम रश्मिवेग मुनिराज समता से प्राण विमोचन कर अच्युत स्वर्ग के पुष्कर विभाग मे जा पहुंचे। वहाँ का स्वर्गिक सुख एक लम्बे अन्तराल तक भोग कर पश्चिम विदेह संस्थित अश्व-नगर में वज्रनाभि चक्रवर्ति हुये, जो क्षेमंकर मुनिराज से धर्म श्रवण कर साधु हो गए। कमठ-जीव अजगर मुनि हनन से छटे नर्क में पहुंचा वहाँ के दारुण दुख भोगने के बाद नर्कायु पूर्णकर कुरंग भील अवतरा, जो सुमुनि बज्रनाभि को देखते ही पूर्व वैर के वशीभूत हो आक्रोष से विगलित हो गया। और संयमलीन मुनि को अपने क्रूर वाण का निशाना बनाया, किन्तु मुनि-पुंगव बज्रनाभि किंचित भी चलायमान न हुए। अपूर्व क्षमा में लीन होकर निर्वैर प्राण छोड़े फलतः मध्य ग्रैवेयक के सुभद्र सुगृह में समदृष्टी अहमिन्द्र हुये। अहमिन्द्र का आनन्दमय आयुष्मान पूर्ण कर साकेत में आनन्द नाम के मण्डलेश अधिपति हुए। श्वेत केश लख सुमुनि बने। समुद्रगुप्त जिनराज के पाद-मूल में बैठकर सोलहकारण भावनाओं का चिन्तवन करते हुए तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध किया। उधर कुरंग भील मुनि हत्या से सातवें नर्क में पहुंचा। वहाँ की रौरव यातनाओं का पूर्ण भोगकर शेर उत्पन्न हुआ संयोग से जैसे ही उसने मुनिराज आनन्द को ध्यान में देखा वह पूर्व संस्कार वश क्रोधित हो मुनिराज पर टूट पड़ा। क्षमाशील मुनिवर आत्माराधन में रमे दिवंगत हो अच्युत स्वर्ग के प्राणत विमान में अहमिन्द्र हुए। ऐश्वर्य भोग पूर्ण कर २३ वें तीर्थंकर भ० पार्श्वनाथ जी के रूप में वाराणसी में अवतरित हुये। शेर मुनि हिंसा से पाँचवें नर्क में गया वहाँ की दुखदग्धता पूर्ण कर भाग्य वशात् महीपालपुर का राजा तीर्थङ्कर भ० पार्श्वनाथ जी का नाना हुआ, जो पत्नि वियोग में हठयोग तापसी हो गया जिसे कुमारावस्था में श्री पार्श्वकुमार ने प्रबोधा; किन्तु वह पहले के शत्रुता के संस्कारों से संचालित हो और कुपित हो गया। कुमार तो विरक्त हो मुनि

दीक्षित हो गए। हठयोगी आयु पूरी कर संवर ज्योतिश्देव हुआ।

भगवान जब तपस्या मे लीन थे तो आकाश मार्ग से सवर देव निकला उसका विमान रुका। अवधिविज्ञान से उसने अपने पूर्व विरोध का सब वृतान्त जाना और बदले की भावना से अनुप्रेरित हो विकट उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। घन गर्जन-तर्जन, बिजली की कौंध; ओलों की बरसात, भयाभय विकराल दैत्य गणों की विश्व कंपा देने वाली क्रूर हुंकार किन्तु क्षमतावान भ० पार्श्वनाथ जरा भी विचलित नहीं। भक्त धरणेन्द्र पद्मावती (जिनका प्रभु ने सर्प-सर्पिणी की पर्याय से उद्धार किया था) सेवा में आ गए। और सर्प रूप आसन व छत्र बनाकर भक्तिभाव से रक्षा कार्य में लीन हो गए। किन्तु प्रभु अब भी साधना में आसीन थे! निश्चल-निष्कम्प! शुक्लध्यान से प्रभु ने घातिया कर्मो का नाश किया—जाज्वल्यमान केवल ज्ञान भास्कर उदय हुआ; अज्ञान के अणु-अणु तमस् कण तिरोहित हो गये। यह देखते ही विरोधी संवर देव भी अपना-सा मुँह लिए पलायमान हुआ। भगवान के समवशरण की रचना हुई। प्रभु की जन्म जन्मान्तर की क्षमा का असाधारण प्रभाव देखकर धूर्त दुठ-शठ कमठ का जीव भी अपनी दुष्टता पूर्ण त्रुटि को चीन्ह गया। वह समवशरण में भ० के श्रीचरणों में नत मस्तक हो गया। देव दुन्दुभि मिस जैसे क्षमा की जय ध्वनियाँ ही गूँज उठीं और जय निनादों का तो कोई पार ही न रहा। सरल मरुभूति की क्षमा की विजय यात्रा का पर्यवसान तीर्थङ्करत्व की पूर्णता में हुआ। आज वही सिद्ध शिला पर सिद्ध परमेष्ठी बने बिराजमान हैं। अहा इससे बढ़कर क्षमा का रचनात्मक आख्यान और क्या कोई हो सकता है। भक्त हृदय महान-महान श्रद्धा से अभिभूत हुआ इस जगमगाते हुए क्षमा के पूंजीभूत नीलाभ ज्योतिस्तंभ के आगे नत मस्तक हो जाता है। शत प्रति शत नमामि।

क्षमा के प्रकाशपुञ्ज भगवान पार्श्वनाथ की जय!

सुकौशल

ओह, मोह-ममता प्राणी को कितना विवेक-शून्य बना देती है ?

'दिगम्बर मुनिराजों को देख उनका उपदेश सुन कहीं मेरा पुत्र भी साधु न बन जाय'—इस ममत्वमयी आशंका से राजमाता सहदेवी ने आहार हेतु नगर प्रवेश करते हुए दिगम्बर जैन मुनियों को सैनिकों के धक्के दिलाकर बाहर निकलवा दिया।

क्षमा शील मुनिराजों को मान अपमानों से क्या प्रयोजन ? वे समता से कर्मों की निर्जरा करते हुए अरण्य के उरस्थल में ध्यान लीन हो गए।

राजमहल की छत से यह सकरुण दृश्य देख रही थी बसन्तलता धाय जिसने कौशलाधिप सुकौशल को शिशुवय से वयस्कावस्था तक पाला पोषा था। वह दहाड़ मारकर रो पड़ी। जिसे सुनकर सुकौशल जी आ उपस्थित हुए और साग्रह रोने का कारण पूछा।

'जिसके इंगित पर इस राज-सदन में अतिथि मात्र का स्वागत होता था, जो इस नगर का अधिपति था, जिसको प्राणनाथ कह राजमाता प्रमोद मानती थीं, जिसकी भृकुटि भंगिमा से अरिदल काँपता हुआ हतप्रभ हो नत मस्तक होता था, जिसकी कीर्ति से दिग्दिगन्त रंजित था, आज वह सत्पात्र महाराजाधिराज कीर्तिधर सैनिकों द्वारा खदेड़े गये—और वह भी पत्नी के इशारे पर। विधि की इसी विडम्बना पर मन मार्मिक वेदना से विदीर्ण है। मेरे लाल ! मैं तो भावातिरेक मे संचालित ही हूं, कहीं तुम भी इससे खेद खिन्न न होना।'

'माँ ! तुमने मेरे अन्तर्दृग खोल दिए। मुझे पितृ-दर्शन की वह प्यास जगी कि बिना इसके शमन किए चैन कहाँ ?'

और वे चल दिये अरण्य की ओर पूँछते-पाँछते गन्तव्य

स्थल पर पहुंच कर निर्निमेष दृग से अपने पितुश्री वीतरागी मुनिराज कीर्तिधर की प्रशमरूप माधुरी का रसपान कर, उनके पाद-पद्मों में विनत हो गये । उनके श्रीमुख से शब्द निकल रहे थे : 'यह वह अधमनराधिप है,जिसके शासनकाल में पवित्रा-त्माओं, दिगम्बर मुनिराजों की अवहेलना ही नहीं तिरस्कार हुआ । सूर्य वन्श की अतिथि-सत्कार की परम्परा का विछिन्न होना कुल-कलंक है, किन्तु यह दुष्कर्म मेरी माँ ने मोह-ममता में अन्धे होकर किया । क्षमा मूर्ति ! क्षमा कीजिये !'

किन्तु मुनिराज अब भी प्रशम मुद्रा में थे । आहार का अन्तराय हो जाने पर भी किंचित्मात्र भी उद्वेलित नहीं ।

सुकौशल पर, आलोचना के क्षणों में, मुनिराज की क्षमा का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने तत्काल ही कीर्तिधर मुनिराज से स्वर्ग-मोक्ष-संसाधिका जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली । ये भी बीतरागता के मोक्ष मार्ग के पथिक बन गए। राजमाता सहदेवी ने जब सब वृतान्त जाना तो वह आर्तरौद्र परिणामों से सञ्चालित हो गई । यहाँ तक कि उसका उसी दशा में प्रणान्त हो गया और मरकर दुर्विचारों के कारण नाहरी हुई । कर्मो की लीला बड़ी विचित्र है : मानवी नाहरी में परिणत हो गई ।

एक चातुर्मास में प्रेतवन स्मशान में पिता-पुत्र अब मुनि द्वै ने चार माह का उपवास कर कठोर तपस्या की । चतुरमासोप-रान्त जब वे आहार के लिए ईर्यापथ सावते हुए नगरोन्मुखी हुए तो कर्म के सयोग से नाहरी का साक्षात्कार हो गया । पूर्व सस्कार वशात् वह इन्हें देखते ही कुपित हो गई। सुकौशल मुनिराज उपसर्ग समझ तत्काल ही समाधि में लीन हो गए । वह उन पर टूट पड़ी और अपने तेज नाखूनों से उनकी कोमल काया को बिदोर्ण किया । निमित्त ज्ञान से कीर्तिधर ने यह जान कि वह पूर्वभवकी सुकौशल की माँ हैं, उसे प्रबोध कराया ।

इधर सुकोशल रंचमात्र भी उपसर्ग में डिगे नहीं। क्रोध

आवेग का तो नाम निशान तक नहीं, उनका ध्यान शुक्ल से शुक्लतर होता गया। फलतः कैवल्य ज्ञान की परमज्योति से अलंकृत हुए। चतुरनिकाय के देव ज्ञानोत्सव मनाने आ गए।

प्रतिशोध से चालित नाहरी अब परिताप की वह्नि में दग्ध हो रही थी। उसका भी सुधार हुआ।

कुछ कालोपरान्त कीर्तिधर महाराज भी कैवल्य लक्ष्मी से विभूषित हो मोक्ष पधारे।

धन्य श्री कीर्तिधर एवं सुकौशल महाराज की अद्‌भुत क्षमा!

धन्य श्री कीर्तिधर-सुकौशल मुनिराज की जय!

सुकुमार सुकुमाल मुनि

सुकौशल के सदृश ही अपूर्व क्षमाधारी थे मुनिराज सुकुमाल।

श्रेष्टि-पुत्र सुकुमाल इतने वैभव सम्पन्न थे कि राजाओं के सुखभोग उनके सामने फीके थे। सुवासित तन्दुलों का जो आहार करते, रत्नों की ज्योति से भी आँखें डबडबा जातीं, बत्तीस विश्व सुन्दरी पत्नियों के मृदु स्पर्श का जो सुख भोग करते, वही सुकुमार सुकुमाल अर्धरात्रि गये अपने मातुल मुनि के मुख से निस्सृत द्वादशानुप्रेक्षाओं के पाठ को श्रवण कर विरक्त हुये और पत्नियों की साड़ियों की रस्सी बना विलास अट्टालिका से भूमि पर उतर गये। मामा के पास पहुंचे—'तेरी आयु मात्र ३ दिन की शेष रह गई। तूने आत्म कल्याण का निश्चय कर बड़ा भला किया है।' कहना न होगा कि जैनेश्वरी मुनि दीक्षा अँगीकार कर भव्यात्मा सुकुमाल जंगल का अज्ञात पथिक बन गया। ऊबड़-खाबड़ कंटका-कीर्ण दुर्गम पंथ पर वह सुकुमार पथिक आत्मा में जागृत और शरीर से बेखबर था। चरण लहू-लुहान हो रहे थे। वह निर्जन बन में कायोत्सर्ग हो समाधि में लीन था। कि उसकी पूर्व जन्म की भाभी जो आर्तरौद्र परिणाम में मरकर श्यालिनी हुई। सुकुमाल के पद-रक्त को चाटती,

चाटती हुई बच्चों के साथ उसी स्थान पर आ गई जहाँ नव दीक्षित मुनिराज सुकुमाल जी ध्यान लीन खड़े थे। उन्हें देख-कर उसे पूर्व जन्म का वैर स्मरण हो गया और यह सोचकर कि 'इसने मेरा लात मारकर अनादर किया इसकी लात ही खाऊँ" वह अपने बच्चों के साथ पैर भक्षण करने लगी। महान क्षमाशील सुकुमाल मुनि अपने ध्यान में अविचल रहे; परिणाम स्वरूप सन्यास मरण कर सर्वार्थसिद्धि में जा पहुंचे जहाँ से एक भव धारण कर मोक्ष जायेंगे। ऐसी भद्रात्मा के चरणारविन्दों में हमारी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि।

मुनिराज यशोधर जी

'शुभे ! तुमने यह साथ में क्या ले लिया है ?'

'मिष्ठान्न।'

'इसलिये कि चीटियों को इस पर आकर्षित करके उतार लोगी। लेकिन चेलने ! तुम्हारा यह मात्र विकल्प है।'

'नहीं स्वामिन् ! वीतराग जैन सन्त शरीर के ममत्व से बहुत ऊपर उठे हुए होते हैं। आप पूर्ण विश्वास रखिए कि उन मुनि-राज ने आपके द्वारा डाला हुआ मृतक सर्प अपने गले से अपने आप कदापि न निकाल फैंका होगा और न ही वे कहीं अन्यत्र चले गए होंगे। और चीटे चीटियां आदि जन्तु मृत सर्प की दुर्गन्धि के साथ उत्पीड़ित कर रहे होंगे।'

'अरे चेलने ! तुम बड़ी भोली हो।' अट्टहास करते हुए श्रेणिक बिम्बसार ने कहा।

'.....हाथ कंगन को आरसी कहा ? अभी चल कर देख लेते हैं।' राजमहिषी चेलना ने गम्भीरता से उत्तर दिया।

श्रीमती चेलना का दृढ़ विश्वास देखकर मगधाधिप श्रेणिक बिम्बसार का कौतूहल बढ़ा। वे देखने गए तो स्तम्भित रह गए।

महारानी की पूर्व परिकल्पनानुसार मुनिपुङ्गव को उसी

स्थान पर ध्यान-लीन एवं चीटियों आदि से त्रासित होता हुआ पाया। किन्तु न तो मुनि-चर्या से रंचमात्र चलायमान थे और न ही कोप से उद्वेलित!

धन्य थे वे मुनिराज यशोधर, जो उपसर्ग को समता भाव से सहन करते हुए ध्यानारूढ़ थे। राशि-राशि क्षमा उनके अपूर्व समरस चेहरे पर नाच रही थी।

जिनद्वेषी सम्राट श्रेणिक अब गद्गद् थे। उनका धर्म-द्वेष एवं अट्टहास अब तिरोहित हो चुका था। भक्ति से अनु-प्रेरित हो मुनि के गले से सर्प निकाल फेंका। महारानी के साथ वे भी चीटियों आदि को हटाने में तल्लीन थे।

उपसर्ग समाप्ति पर मुनिराज ने ध्यान भंग किया तो राजा रानी दोनों को समान रूप से आशीर्वाद दिया।

मुनिराज की इस महान क्षमाशीलता को देख कर सम्राट चकित रह गए। उनके श्रीमुख से निकल पड़ा—'महान-महान क्षमावान मुनिराज आप धन्य हैं!'

क्षमा-दान : प्रेम शासन-का बीज-मन्त्र

छोटे देखने में छोटा किन्तु बड़ा खोटा था। छोटी उम्र में अधिकतर किशोरों को खेलकूद में ही मजा आता है। पढ़ाई-लिखाईमें मन लगाने वाले विरले ही बालक होते हैं। कक्षा आठ के हरी और श्याम छोटे के हमजोली थे। उनके विद्यालय के पास ही एक पुराना पक्का बाग के नाम से प्रसिद्ध अमरूद का बाग था। बाग के चारों तरफ छोटी पक्की ईंट (ककइया ईंट) की प्राचीर थी। इसी से यह पक्का बाग कहलाता था। किन्तु प्राचीर पुरानी होने से टूट गई थी कहीं-कहीं उसमें बड़े-बड़े सूराख हो रहे थे, जिनमें होकर बच्चा क्या आदमी तक निकल जाय। बाग का माली ईंट-पत्थर लकड़ी आदि से छेद बन्द करता रहता था, किन्तु शैतान बच्चे उन्हें हटाकर गायब कर देते थे।

छोटे के नेतृत्व में कुछ बच्चों की टोली समय-समय पर जाकर पके अमरूद तोड़ती और खाती। इस हानि से माली परेशान था। वह अपराधी बच्चों को पकड़ने की उधेड़बुन में रहने लगा।

× × ×

एक दिन छोटे अपने साथियों के साथ बाग में घुसकर एक पेड़ पर चढ़ गया और पके पके अमरूद स्वयं खाने लगा तथा अपने साथियों को डालने लगा। माली इन्हें रँगे हाथ पकड़ने की फिराक में था ही, वह उधर आ धमका। उसे आते देख श्याम हरी चिल्लाए—'हाय मरे ! माली आया।' जैसे ही ये शब्द छोटे के सतर्क कानों में पड़े, उसने आगे-पीछे कुछ न देखा—तुरन्त ही वृक्ष से धड़ाम नीचे कूद पड़ा। किन्तु भागने में अतिशय छिप्रता करने के बावजूद भी वे माली के चंगुल से बाहर न निकल सके।

माली ने पहले तो इन शरारती लड़कों को खूब ही डाँट फटकार लगाई, फिर इन्हें थाने ले चला। बच्चे बहुत ही रोए गिड़गिड़ाए। बड़ी मिन्नतें आरजू कीं पर उसने एक न सुनी। थाने का मार्ग विद्यालय से होकर ही गुजरता था।

मध्याह्न काल था। मध्याह्नावकास (रेस्ट) हो चुका था और विद्यालय के सैंकड़ों बच्चे बाहर खेल रहे थे। उन्होंने अपने साथी छोटे-हरी-श्याम को पहचान लिया और उनके साथ माली का घिराव कर डाला। यद्यपि माली बहुत तगड़ा था, किन्तु सैंकड़ों बच्चों के बीच वह घिर जो गया था। तथापि वह अब भी इन शरारती बच्चों को छोड़ नहीं रहा था। ये शरारती लड़के भी अपने साथियों को पाकर अब आगे आसानी से नहीं बढ़ रहे थे। माली और इनमें झगड़ा होने लगा। शोरगुल सुनकर प्राचार्य महोदय घटना स्थल पर आ पहुंचे। माली ने उन्हें संक्षेप में सब किस्सा बता दिया। फिर भी उन्होंने उन बच्चों को छुटवाने का काफी प्रयत्न किया। 'अब आगे, ये ही नहीं, विद्यालय का कोई भी छात्र, तुम्हारे बगीचे में नहीं जायगा' इस उत्तरदायित्व

पूर्ण आश्वासन पर उन्होंने इन बच्चों को मुक्त करा पाया।

किन्तु छोटे आदि को प्राचार्य महोदय के आ जाने से मुक्ति तो मिली, किन्तु इनका हृदय धक-धक कर रहा था कि खजूर से गिरे आम पर लटके। माली से मुक्ति मिली किन्तु अब प्राचार्य महोदय का दण्ड तो सहना ही होगा जो शायद थाने से अधिक भयकर हो सकता है। उन्हें आशंका थी कि प्राचार्य महोदय उनकी मार-पीट से मरम्मत तो करेंगे ही साथ ही उनके घरों में इसकी सूचना भेजेंगे सो घर पर भी कम पिटाई नहीं होगी। इसके अतिरिक्त वे विद्यालय से भी उनका निष्कासन कर सकते है।

वे बड़े आकुल-व्याकुल थे—अपराधी प्रायः होते ही हैं फिर वे ठहरे बाल अपराधी !

× × ×

छोटे-हरी-श्याम तीनों ही अभियुक्त प्राचार्य महोदय के समक्ष मुँह लटकाए खड़े हैं। भय के मारे थर-थर काँप रहे। खोट-सरताज छोटे मियाँ छोटे तो फफक-फफक कर रोने लगे।

प्राचार्य बड़े मनोविज्ञानी थे, बोले—'अब रोकर दिखाते हो, जब चोरी करने गए थे, तब नहीं सोचा था !' वे नसीहत के रूप में कहे जा रहे थे—'शिक्षा-पढ़ाई-लिखाई से मुँह मोड़कर अच्छे बच्चे किसी के बाग में फल चुराने नहीं जाते। तुमने अन्य बालकों को भी अपना बुरे कामों का साथी बनाया। अपराध गुरुतर है--दण्ड तो मिलना ही चाहिए।'

अपराधी मौन दण्डनीय अपराध की स्वीकृति दे रहे थे।

मनोविज्ञानी प्राचार्य ने अपना अपराध-सुधार निर्णय सुनाया—'तुम लोग, मैं समझता हूँ, अपने अपराध के भारीपन को समझ रहे हो। अब यह तुम्हें ही निर्णय करना है कि तुम्हें क्या दण्ड दिया जाय।'

उदारमना प्राचार्य की इस उदारता पर भी बाल अपराधी निरुत्तर थे। खामोशी को भंग करते हुए प्राचार्य महोदय ने

फिर कहा—'अच्छा,आज जाओ,पढ़ो कल सोचकर उत्तर देना।'

इन बाल अपराधियों के पूर्व सचित भय के विपरीत इनके लिए यह नवीन ही अनुभव था। वे पढ़नेके नाम पर इस समय अन्य-मनस्क थे। शाम को खोटे छोटे को तो नींद हराम हो गई। रात भर करवटें बदलता रहा। अपने लिए दण्ड सोचता, कुछ भी न सोच पाता। किंकर्तव्य विमूढ़। रात बड़ी बेचैनी रही—कभी माली का आतंकवादी चेहरा, उसकी डांट-डपट उसके बन्द दृगों के सामने नाचने लगती, कभी प्राचार्य की उदारता पूर्ण सकरुण किन्तु गम्भीर मुख मुद्रा; उनके प्रति कृतज्ञता भर आती। फिर भी भावी भय की आशंका ज्यों की त्यों उसके सामने दैत्याकार आकर खड़ी हो जाती, वह काँप जाता। जैसे-तैसे रात कटी। यही हाल उसके अन्य संगियों का रहा।

× × ×

दूसरे दिन विद्यालय कार्य-क्रम विधिवत चल रहा है। छोटे-हरी-श्याम को प्राचार्य महोदय के समक्ष जाना पड़ा। वहाँ वे मुँह लटकाए मौन खड़े हैं। बहुत कुछ सोचा विचारा, आपस में परामर्श किया, किन्तु उन्हें अपने गम्भीर अपराध के समक्ष सभी दन्ड हल्के प्रतीत हुए। अतः वे कोई निर्णय न कर सके, सो मूक बने खड़े रहे। प्राचार्य ने पूछा—'कहो, तुम्हें कौन-सा दण्ड दिया जाय?' अनिर्णय की दशा में वे मौन थे। उदार मनोविज्ञानी प्राचार्य महोदय फिर इन अपराधियों को विचार करने का अवसर प्रदान करते हुए बोले, 'अच्छा, आज पढ़ने में मन लगाओ, कल तक कुछ निश्चय अवश्य कर लेना।' वैसे जाहिर तौर पर इन अपराधियों को एक दिन का अवकाश और मिला किन्तु वास्तविकता यह थी कि इन्हें मानसिक त्रास की एक दिन की सजा और मिल गई।

तीसरे दिन भी इन अपराधियों की वही स्थिति रही अर्थात वे कुछ निर्णय न कर सके। किन्तु प्राचार्य महोदय अपने निर्णय पर अचल थे। समस्या का कोई समाधान न देख कर छोटे ने

कहा, 'हम लोगों को दो घण्टे तक एक ही स्थान पर खड़े रहने की सजा दीजिए। यद्यपि यह सजा इन बालकों के भारी अपराध को देखते हुए बहुत थोड़ी थी, किन्तु इनको मानसिक घुटन से छुटकारा जो पाना था। अतः उपरोक्त सुझाव पेश कर दिया।

आचार्य महोदय गम्भीर मुद्रा में छोटे के समीप बढ़ गए और उन्होंने बड़ी आत्मीयता के साथ अपना वरदहस्त छोटे के मस्तक पर रख दिया। उसका सिर हौले-हौले सहलाते हुए वे बोले 'बेटा मैं तुम्हारा अपराध क्षमा करता हूँ, अब ऐसा बुरा काम कभी न करना। तुम कभी पाठ याद करके न लाओ तो मुझे बरदास्त होगा, किन्तु चोरी आदि दुर्व्यसनों में फँसना, सद्गुणों की अवहेलना करना असहनीय होगा। तुम सब सद्गुणी बनो; तो हमें परम सन्तोष होगा।'

अभियुक्तों का प्रायश्चित पूरा हो गया। करुणा की इस अनभ्र वृष्टि से उनके नेत्र सजल थे। छोटे की आँखों से तो टपटप आँसू बहते हुए दृष्टि गोचर हो रहे थे। मानो आचार्य की करुणा गंगा में स्नान करके पवित्र हो रहे हों।

इस क्षमा-दानका बड़ा ही अद्भुत प्रभाव था। कुछ दिनों बाद विद्यालय ने देखा कि बिना दण्ड दिए हुए ही इन बच्चों की चोरी, शरारतो की आदत सदा सर्वथा के लिए समाप्त हो गयी थी। पाप का प्रक्षालन दण्ड से नहीं हृदय-परिवर्तन से होता है और क्षमा-दान प्रभावी प्रेम-शासन का बीज मन्त्र है—यह आज विद्यालय के छात्र एवं अध्यापक पूर्ण अनुभव कर रहे थे।

★

बाहुबलि

★

'राजपुरोहित !'

'जी, महाराज !!'

'चक्र नगर में क्यों नहीं प्रवेश कर रहा ?'

'महाराजाधिराज अभी कोई ऐसा राज्य अवशेष है, जिसने आपकी आधीनता स्वीकार नहीं की।'

'अच्छा, इस इस संसार में अभी ऐसा कोई बाकी रहा है, जिसने मेरा आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। बड़े-बड़े राजे महाराजे तो मेरा नाम, पौरुष, सैन्यबल सुनकर ही परास्त हो गए, जो कुछ अकड़े वे धराशायी हुए। अब किसके शिर पर मृत्यु नाच रही है ? शीघ्र बताओ।'

'महाराज, हम और मन्त्रिवर इसी पर विचार विमर्श कर रहे थे।'

'कुछ पता भी चला ?'

'हां स्वामी, पोदनपुर के अधिपति-आपके अनुज बाहुबलि ने अभी तक आपका स्वत्व स्वीकार नहीं किया !'

'अच्छा, उस क्षुद्र की इतनी हस्ती, जो भरत चक्रवर्ती को मस्तक न नमाए। ... जाओ सेना को समर के लिए सुसज्जित करो। हम लोग दक्षिण में पोदनपुर की ओर मुखोन्मुख होंगे, जब संसार का अणु-अणु कण-कण मेरे स्वामित्व को स्वीकार करेगा।'

'महाराजाधिराज ! इतने उत्तेजित न हो जाइए और न ही इतनी शीघ्रता कीजिए।'

'वृद्ध आमात्य ! मैं तुम्हारी बात टाल नहीं सकता। तुम जो कहोगे, वही मान्य होगा।'

'महाभट्टार्क ! आप स्वयं विज्ञ हैं। राजनीति पहले चर भेजने का आदेश देती। जब चर की बात न मानी जाय तब राजा को ससैन्य युद्ध-क्षेत्र को सुशोभित करते अच्छा लगता है।'

'हाँ मन्त्रिवर, जहाँ मेरा दूत ही काम कर सकता है, वहाँ मेरी क्या आवश्यकता ! ·· तो आप चर को अविलम्ब ही पोदनपुर भेजिये बाहुबलि मेरा अधिकार स्वीकार करे अथवा समरांगण को उद्यत हो जाए।'

'नरनाथ ! ऐसा ही होगा।' कहकर अमात्य और राजपुरोहित नमस्कार कर चले गए।

× × ×

पोदनपुर नगर दक्षिणपथ में अपना गौरव बिखेरता हुआ स्थिति है। नगर की अपनी अनोखी आभा है।

राज्यदरबार में राज-सिंहासन पर आसीन स्वस्थ महा महा प्रभावान बाहुबलि ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो कोई अलोकिक प्रतिमा इस संसारके ऐश्वर्य बढ़ाने को स्वर्ग से उतर आई हो।

द्वारपाल ने सम्राट बाहुबलि को मस्तक झुकाकर उनसे विनत भाव से कहा—स्वामिन् अयोध्या से एक चर आया हुआ है।

'उसे मेरे समक्ष उपस्थित करो'—सम्राट ने उत्तर दिया।'

'जो आज्ञा महाराज'—कहकर विनत होता हुआ द्वारपाल चला गया कुछेक क्षणों में वह चर को राजदरबार में उपस्थित कर वापस चला गया।

दूत ने बाहुबलि को विना मस्तक झुकाए अभिवादन कर उनसे कहा—'या तो आप मेरे स्वामी भरत का स्वत्व स्वीकार कीजिए या रणको तैयार हो जाइए।'

'रे भृत्य ! तू कुछेक मुद्राओं के बल पर आपे से बाहर है।

गुलामी की जिन्दगी भी कोई जिन्दगी है ?

'जा और अपने स्वामी से जाकर कह दे कि बाहुबलि अपने पिता का दिया हुआ राज्य भोग कर रहे हैं। इसमें भरत का कुछ भी नहीं। भरत यदि अन्याय या अनीति से इसे हड़पना चाहेंगे, तो उन्हें लोहे के चने चबाने होंगे। मैं अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा की खातिर उनका युद्ध क्षेत्र के लिये आह्वान स्वीकार करता हूं। तथा मैं चुनौती देता हूँ कि जब तक मैं जीवित हूँ तब तक पोदनपुर का बच्चा भी उनके स्वत्व को स्वीकार न करेगा।'

भृत्य अपना-सा मुँह लेकर चला आया और उसने सम्पूर्ण वृतान्त यथावत अपने स्वामी को कह सुनाया।

फिर क्या था, सम्राट भरत के साथ उनकी चतुरंगिणी सेना ने दणिक्ष दिशा में रण-वाद्यों के तुमुल नाद के साथ पोदनपुर के रास्ते पर धूल उड़ाते हुए कूच कर दिया।

× × ×

पोदनपुर की शस्य श्यामला धरती पर रणक्षेत्र में भरत-बाहुबलि की उभय सेनायें आ गयीं हैं। रण वाद्यों के साथ सैनिकों की शिराओं में उष्ण रक्त थिरकने लगा। आज ही तो इनके सारे सैनानी जीवन का गुल खिलेगा। देखेंगे कौन क्या जौहर दिखाता है ?

लेकिन अभी युद्ध होने में कुछ अन्तराल है। उभय पक्षों के प्रमुख आमात्य एक दूसरे के पास आये और मंत्रणा करने लगे।

'चक्रवर्ती भरत दिग्विजय करने निकले, सारे संसार को विजय किया, कहीं पर एक बूँद भी रक्त न गिरा—बड़े-बड़े योद्धा साम्राज्यों ने उनका स्वत्व स्वीकार कर लिया। परन्तु आज दिखता है कि खून की नदियाँ बहकर ही रहेंगी।—भरत के प्रमुख आत्मात्य ने कहा।

'ये दोनों सम्राट तो चर्म शरीरी है—इनके शरीर का भला कोई क्या बाल बांका कर सकता है। यह बेचारी सेना ही है,

जो पीसी जावेगी।'—बाहुबलि के आत्मात्य बोले।

'हाँ, क्यों नहीं, युद्ध में न जाने कितने वीरगति को प्राप्त होंगे और उनकी मातायें निपूती हो जावेंगी, पत्नियाँ विधवा होंगीं! आह! यह दर्दनाक दृश्य भी क्या इन्हीं आँखों से देखना होगा?' भरत के आत्मात्य प्रवर ने कहा। तब बाहुबलि के मन्त्रिवर बोले—'यदि इस आने वाले दारुण दृश्य से निष्कृति पानी है, तो कोई शीघ्र ही उपाय सोचना होगा, अन्यथा अभी थोड़ी सी देर में युद्ध प्रारम्भ हो जावेगा और इस दिशा में यह हरी भरी मातृवत वसुन्धरा डाइन की तरह रक्त-रंजिता हो जावेगी।'

'मेरी समझ में तो यदि अपने सम्राट ही आपस में युद्ध कर लें, तो इस निरीह सेना का संहार बच जाय!'

'आत्मात्य प्रवर, यही कुछ मैं भी सोच रहा था और मेरा अनुमान है कि हमारे सम्राट हमारी बात को ठुकरा न देंगे। वे इसे सारगर्भित समझ अवश्य ही मानेंगे। युद्ध क्यों हो?'

'इस पर मैंने पर्याप्त विचार किया था, मेरी समझ में तो नेत्र, मल्ल, जल ये तीन युद्ध ही ठीक जँचे।'

'वाह आमात्यवर! क्या खूब सोचा। ये ही तीन युद्ध मेरे भी मस्तिष्क में आ रहे थे। सम्भवतः हमारे आपके विचारों का एकीकरण-सा हो रहा है।' 'तब देर नहीं करना चाहिए। सम्राट प्रवर के समक्ष भी तो इस प्रस्ताव को रखना होगा।'

'हाँ क्यों नहीं।'

दोनों आमात्य अपने-अपने सम्राटों के पास उनकी इन तीन युद्धों के विषय में स्वीकृति लेने चले गए।

अपने-अपने सम्राटों के समक्ष उभय मन्त्रियों ने सारी अवस्था का दिग्दर्शन करा दिया। अपने मनीषी मन्त्रियों की मंत्रणा को दोनों ही सम्राटों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

फिर क्या, नर संहारक युद्ध स्थगित हो गया और सम्राटों के पौरुष युद्ध का उपक्रम होने लगा।

भरत बाहुबलि दोनों ही दलों के घेरे में खड़े हैं। मल्ल युद्ध होने वाला है।

भरत नाटे कद के हैं। परन्तु शरीर गठा हुआ है।

बाहुबलि लम्बे-लम्बे और उनका हृष्ट-पुष्ट कलेवर, साथ ही जलधि से गम्भीर !

लो कुश्ती होने लगी। जरा ही देर में भरत चारोंकौन चित्त आ पड़े। उनकी हार हुई।

कुछ खिसयाते हुए से बोले, 'लो अभी बाकी युद्धों में मैं पछाड़ता हूँ।' जनता की उत्कण्ठा आगे के युद्ध देखने को बढ़ चली।

जल युद्ध हुआ। उसमें भी बाहुबलि की जीत और भरत की हार।

निगाहों के लड़ाने में भी भरत जीत न सके। वे नाटे थे। उन्हें दृष्टि उठानी पड़ती ,जबकि बाहुबलि नीचे निगाह किए रहते। अतः भरत को इस अन्तिम वार भी मुँह की खानी पड़ी।

इस बार भरत आपे से बाहर हो गए। उन्होंने कहा--मैंने पृथ्वी के किसी राजा को बिना पराजित किए हुए न छोड़ा। छहों खण्ड जीत लिए। अब वह अपने छोटे भाई से ही पराजित हो—कदापि नहीं। यह कहते-कहते उन्होंने चक्र का प्रहार बाहुबलि पर कर दिया। परन्तु पुण्य प्रभाव से चक्र बाहुबलि का कुछ भी न बिगाड़ सका। वह उनकी तीन प्रदक्षिणा दे भरत के ही हाथ में वापिस आ गया। भरत चित्रित से मूर्तिवत खड़े रह गए।

परन्तु इस क्रिया ने बाहुबलि के अन्तरंग में विराग की निर्मल बेगवती धारा को बहा दिया। वे बोले—उफ, इस तुच्छ राज्य-लिप्सा के लिए मनुष्य क्या से क्या कर जाता है उसे हेय श्रेयका विवेक नहीं रहता। धिक्कार है ऐसे राज्य को, जो भाई-भाई को भाई भाई भी न समझने दे।'

इस निर्वेद भाव के उद्वेग में वे राज-पाठ जिसके लिए भरत ने मुँह की खाई थी—भरत को सोंप कर वनकी ओर

चल पड़े ।

लोग ठगे-से यह सब कुछ देख रहे थे। उनके मुखारविन्दों से इस प्रकार को शब्दावलि फूट पड़ी–'धन्य बाहुबलि !'

× × ×

बाहुबलि दक्षिण भारत की पर्वत श्रेणियों और वीथियों में धँसे चले जा रहे हैं। जितनी शीघ्रता में उनके पैर उठ रहे हैं, वे बताते हैं कि उनके मस्तिष्क में उससे भी प्रबल विचारों का झंझावात बह रहा है ।

वे एक पर्वत पर ध्यान लीन हो गए। वे सोच रहे थे 'अब यह राज्य भरत का हो गया मैं उनकी पृथ्वी पर क्यों खड़ा होऊँ' उनके अन्तरंग में यही ऊहापोह हो रही थी। महा बलवान बाहुबलि अपने पैर के एक अँगूठे पर खड़े होकर ध्यान निरत हो गए। अब उन्हें बाह्य जगत से कोई सरोकार नहीं । बाहरी दुनियाँ से अज्ञात पर भीतरी दुनियाँ में बिचरते हुए।

आँधियाँ आईं वे बेफिक्र, निश्चल। पानी गिरा तो किसी तरु तले जा-जाकर नहीं छिपे। बिजलियों की चकमक बादलों की घड़घड़, गर्जन, तर्जन डरा न सकी ।

योग की चरम सीमा ।

कुछ दिनों बाद लोगों ने देखा वेलें उन पर छा गईं हैं। चींटियों ने उन पर बिल बना लिए है।

यह आख्यान नहीं है सत्य ।

तो बाहुबलि की योगावस्था का जिक्र दिग्दिगान्तरों में फैल गया, चक्रवर्ती भरत ने भी सुना, उनकी बहिन ब्राह्मी और सुन्दरी ने भी सुना। वे लोग उनके दर्शनार्थ गए।

चर्चा हो रही थी जब इतनी महान योग-तपश्चर्या तो बाहुबलि को केवल ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? कौन से आवरण उनके अनन्त जाज्वल्यमान ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य पर परदा ढाले हुए हैं ? ये प्रश्न थे पर उनका समाधान कहाँ ?

किन्तु इन्हीं प्रश्नों का उत्तर इन्होंने आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव की दिव्य वाणी में सुना कि वाहुबलि के अन्तरंग में 'मैं भरत की भूमि पर खड़ा हूँ—मानकषाय युक्त शल्य से केवल ज्ञान नहीं हो रहा है ।'

उन्होंने जो सुना वही बाहुबलि स्वामी के पास जाकर सच सच देखा।

सब सत्य था—कपोलकल्पना नहीं ।

भरत बाहुबलि के चरणों में गिर पड़े ।

जो उनके ऊपर स्वत्व स्थापित करना चाहता था, वही उनके पदाम्बुजों में लोट रहा है। यही तो है समय की बलिहारी !

ब्राह्मी-सुन्दरी ने बाहुबलि की मुखाकृति से भी उनके भ० आदिनाथ द्वारा बताये गए मनोभावों को पढ़ लिया। वे बोलीं—'वीरा ! गज से उत्तर !!'

यह शब्द-ध्वनि उनके कर्ण कुहरों में टकराई । वे झनझना उठे। जिस कान की झिल्ली पर मेघों की कड़कड़ाहट की जूँ भी न रेंगी, उस पर इसतनिक से वाक्य ने जैसे घन से भी गुरुतर प्रहार किया । उनका माथा ठनका। उन्होंने प्रत्यक्षत: देखा कि वे किसी हाथी पर सवार नहीं, परन्तु उन्हें अपनी त्रुटि जँच गई। उन्हें जैसे लगा कि कोई चिल्लाकर इस वाक्य की व्याख्या कर रहा है—'तू अहंकार के हाथी पर चढ़ा है, उससे उतर !'

बाहुबलि ने अपनी कमजोरी पहचानी। उन्होंने भूल सुधारी । यह पृथ्वी न किसी की हुई है, न किसी की होगी। इस पर न जाने कितने आयेंगे और चले जायेंगे ।

भरत, ब्राह्मी और सुन्दरी चले गए ।

बाहुबलि की आत्मा के ऊपर से अहंकार का आच्छादन हट गया। वह धवल अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख एवं वीर्य से जगमगा उठा। वे अरिहन्त हुए। उन्होंने अपनी अमृतवाणी से उत्पीड़ित संसारी जीवों को शीतल किया ।

चतुर्दिक उनका ज्ञान मुखर उठा, वे मुस्करा उठे। प्रकृति मुस्करा उठी; मानों सारा संसार मुस्करा उठा।

वे हो गए सिद्ध, निर्विकार; निरहंकार!

अब अवशेष रह गई उनकी स्मृति; उनकी छाया। इस छाया का मूर्त चित्रण कहाँ? हाँ हाँ है, श्रवणवेलगल की उतुङ्ग ४८ फीट की मूर्ति में, मूर्ति—छाया। छाया उस महान् आत्मा की जो महान मानवता का उदाहरण और आदर्श थी। इस आदर्श छाया में भी प्राण—जैसे जीवन-ज्योति फूटी पड़ती है।

धन्य बाहुबलि!

गर्व किसका रहा?

श्रीभगवान आदिनाथ वृषभदेव के ज्येष्ठपुत्रभरत चक्रवर्ती जब दिग्विजय करके वृषभाचल पर्वत पर अपना नाम अंकित करने गए, तब उन्हें यह अभिमान हुआ कि मैं ही एक ऐसा प्रथम चक्रवर्ती हूं, जिसका नाम पर्वत पर सबसे शिरोमणि होगा, किन्तु जब वे पर्वत के सन्निकट पहुंचे कि उनका सारा गर्व खर्व हो गया। उन्हों ने वृषभाचल के पार्श्वों पर देखा दो देखकर स्तम्भित रह गए। यहाँ तो इतने अधिक नाम थे कि उन्हें अपना नाम लिखने तक को स्थान नहीं; न मालूम पूर्वकाल में इस वसुन्धरा पर कितने और चक्रवर्ती (६ निधि, चौदह रत्न, ९६ हजार रानियों के स्वामी) हो चुके हैं, जो सब अपना-अपना नाम यहां पर लिख गए हैं। अन्त में लाचार होकर उन्हें एक नाम मिटाकर अपना नाम अंकित करना पड़ा। मानकषाय बड़ा प्रवल होता है।

परन्तु काल के सामने चक्रवर्ती भरत भी चक्रवर्ती न रहे!

निरहंकार का अभिषेक

वह ईशा की दशवीं शताब्दी थी। दक्षिण भारत में गंग-वंशीय सम्राट रायमल्ल के दण्डनायक और सेना नायक प्रसिद्ध पराक्रमी युद्धवीर चामुण्डराय थे, जिन्होंने एक-दो नहीं चौरासी युद्ध लड़कर स्वदेश की रक्षा कर अपने समय के अद्वितीय वीर होने का विशद विरुद प्राप्त किया था। वे कर्मवीर के साथ ही बेजोड़ धर्मवीर भी थे। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी बड़े अकाम; अनासक्त थे। यही कारण है कि अपने युद्ध शिविरों के दौरान उन्होंने कन्नड़भाषा का 'त्रिशर्टिशलका पुरुष चरित' रच डाला जो कि प्रथमानुयोग का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यों यथार्थ ही वे सम्यक्त्व चूड़ामणि की गुरु गरिमा से समलंकृत बीर सैनानी थे।

× × ×

'आर्यपुत्र !'

'कहो शुभे ! क्या बात है ?'

'माता जी, तो कई दिन से दूध-दही ही ग्रहण नहीं कर रहीं हैं।'

'क्यों, ऐसी क्या बात हो गई ?'

'वे मुझे तो कुछ नहीं बताती, आप ही ज्ञात कीजिए।'

यह सुनते ही महा विनयवान चामुण्डराय भला कब रुकने वाले थे। तुरन्त ममतामयी माँ के समीप जा पहुंचे और जानना चाहा कि माँ जी दूध-दही क्यों नहीं गृहण कर रहीं हैं। पहले तो माता जी ने बताने से अनाकानी की, किन्तु आज्ञाकारी पुत्र भला कब मानने वाला था। आखिर लाचार हो माँ को बताना पड़ा—'बेटा ! मुझे विकल्प आया कि मैं पोदनपुर के भरत महाराज द्वारा स्थापित भ० बाहूबली जिनबिम्ब के दर्शन कर ही दूध-दही गृहण करूँ, सो यह आखड़ी लेली है।'

आखड़ी सुनी तो वह दूसरे दिन सदलबल पोदनपुर की

यात्रा को चल दिए।

× × ×

अपनी तीर्थयात्रा में श्रवणवेलगोल पर उन्होंने एक पड़ाव किया। वहाँ एक व्यापारी से उनकी भेंट हो गई। व्यापारी ने बताया पोदनपुर का मार्ग अब अवरुद्ध है। वहाँ कुक्कुट सर्पों का अति संचार है। श्री भरत महाराज द्वारा निर्मित भ० बाहुबलि-प्रतिमा के भी कोई दर्शन नहीं होते। सुदीर्घ कालीन बात होने से वह लगता है—भूगर्भ में विलीन हो गई है।

यह सुनकर चमुण्डराय और उनकी माताजी कुछ आकुल-व्याकुल हुए।

सचिन्त दशा में वे रात को बड़ी कठिनाई से सो सके। सोते में स्वप्न में देखते हैं, पद्मावती देवी उनसे कह रही है—'तुम विकल क्यों होते, तुम तो धर्मवीर हो—परम पुरुषार्थी हो। तुम प्रातः इन्द्रगिरि से बिन्ध्यगिरि पर तीर चलाना, जिस पाषाण पिण्ड पर तुम्हारा तीर लगेगा, वहाँ पर ही विशालकाय भ० बाहूबली के दर्शन होंगे।'

दूसरे दिन स्वप्न के निर्देशानुसार गुणरत्नाकर सुगुरुवर श्री नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती की उपस्थिति में उन्होंने इन्द्र-गिरि से बिन्ध्यगिरि पर वाण चलाया और जहाँ वाण गिरा वहीं कुशल शिल्पियों को मूर्ति निर्माण में लगा दिया। शिल्पिवृन्द अपनी पैनी टांकियों से पाषाण पिण्ड को ढ़ालने लगे मूर्ति के स्वरूप में। बनने लगी मूर्ति—सुन्दर से सुन्दरतर, नहीं-नहीं सुन्दरतर से सुन्दरतम! वाह ५७फीट उत्तुङ्ग सत्यं, शिवं, सुन्दरं की साकर मूर्ति युगादि तीर्थंकर वृषभनाथ के कनिष्ट पुत्र महान साधक बाहूबली की आदर्श त्याग तपस्या को ही मूर्तिमान नहीं करती अपितु जैन शासन का जीवन्त आदर्श कीर्ति स्तम्भ ही विनिर्मित हुई है। अहो कितनी विशालता किन्तु कितनी वीत-रागता—यह ऐसा मणिकाञ्चनयोग मिला कि जिसे देख दम्भियों का दम्भ भी काफूर हो जाये।

ओह, मोहनीय कर्म भी संसारी जीवों में बड़ा प्रबल है। अज्ञात रूप में मूर्ति-निर्माता चामुण्डराय के अन्तरंग में यह किंचित अहंकार विकार उत्पन्न हुआ कि मैंने यह एक अद्भुत मूर्ति निर्माण कराई, इसकी समता में कोई भी अन्य मूर्ति नहीं है। यह विकार उनके चित्त में पनप रहा था और उधर शुभ दिन शुभ घड़ी इसकी प्रतिष्ठा होने जारही थी। क्रियाकाण्ड में भी निष्णात सिद्धान्त ग्रन्थ गोम्मटसार के जीवकाण्ड कर्मकाण्ड के प्रख्यात प्रणेता श्री नेमिचन्द्राचार्य जी के मार्ग-दर्शन में ईश्वी सन् ९८०को प्रथम प्रतिष्ठा होरही थी। पंचामृत अभिषेकका कार्य-क्रम चल रहा था। मूर्ति संस्थापक श्री चामुण्डराय कलशों पर कलश दूध उढ़ेले जा रहे थे, किन्तु आश्चर्य, महान् आश्चर्य, दूध मूर्ति के कन्धों से नीचे नहीं आ रहा था। बड़ी हैरत थी।

प्रतिष्ठाचार्य का माथा ठनका। वे सम्प्रति परिस्थिति का आलोड़न-विलोड़न करने लगे। बिलक्षण बुद्धि के वर्चास्व व्यक्ति थे वे। उन्होंने चामुण्डराय की मुखाकृति पढ़ी और पढ़ते ही रह गए। औपचारिक विनय भाव तो था किन्तु मानस में वर्त रहे किंचित अहं-उन्माद से भक्ति की भाव-प्रवणता दृष्टिगोचर न हुई। उन्हें लगा कोई अतिशय भक्ति-विह्वल व्यक्ति यहां उप-स्थित है, किन्तु उसे संकोच वशात सामने आनेका साहस नहीं। उसे खोज निकालना चाहिए तभी अनुष्ठान पूरा होगा।

शिष्यजन गुरु का इंगित पाते ही उपस्थित भीड़ में निश्च्छल भक्तात्मा की तलाश करने लगे। भीड़ से कुछ दूर एक कोने में देखा तो देखते ही रह गए। एक बृद्धा अपलक जिन-बिम्ब को निहार रही थी। उसके कँपकपाते हाथों में एक छोटा सा नारियलका प्याला जिसमें थोड़ासा क्षीर लिए। अभिषेक के भक्ति भाव उसके उमड़ रहे थे। वह मूर्ति दर्शन में इतनी खोई हुई थी कि उसे आगत शिष्यगणों का बोध तक न हुआ। शिष्य-गण समझ गए बृद्धा सच्ची भक्त है और वे उस कृशकाय बृद्धा को गोद उठा ले गए आचार्य के पास। रंक को मानो राज-

पाट मिल गया था। बुढ़िया की बांछे खिलगईं। उसे लगा कि उसका अहो! भाग्योदय हुआ, जो उसे जिनाभिषेक का अवसर मिलने वाला है।

आचार्य उसकी भावमुद्रा को देख समझ गए यह भक्त हृदय जाति, कुल, रूप, यौवन, पद, धन, बल, ऐश्वर्य आदि मदों से कोसों दूर निष्कपट महिलारत्न है। वे पूँछ बैठे—'माँजी; आपका क्या नाम है?'

'मैं गुल्लिकायी बागुल यानी मालिन हूँ।'

'क्या अभिषेक के भाव हैं।'

उसका कण्ठ भर आया। आँखें गंगा-यमुना बहाने लगीं— 'गिरा अनयन, नयन विनु वानी' थे। उपस्थित समुदाय और आचार्य महाराज उसकी सहज भक्ति देख गद्गद थे। पतितोद्धारक जिनधर्म एवं जैनाचार्य ने बिना जाति-पांति का विचार किए उसे मंच के उच्चासन पर भेज दिया और उससे अभिषेक करने का निवेदन किया। उसने सभक्ति सिर झुकाकर भगवान के मस्तक पर ज्योंही अपने दूध का प्याला चढ़ाया कि जरा-सा दूध विशालकाय जिनबिम्ब पर शिर से पादमूल तक बहता चला आया। मानों कोई सुर-गंगा ही उमड़ पड़ी हो। अभिषेक होते ह। जनता में जय-जय नाद होने लगे।

मूर्ति निर्माता सरदार चामुण्डराय ने अपना मन टटोला—वे गुरुके समक्ष आत्म-समीक्षा करने लगे। 'भगवन्! मैं अपनी समस्त जनसमुदाय के समक्ष निन्दा करता हूँ। महा मूर्ति निर्माण करा देने का किंचित अहंकार मेरे मन के किसी कौने में उदय हुआ जिसने मुझे सहज भक्ति-भाव से दूर कर दिया। अब भविष्य में पूर्ण सावधान रहूँगा!' कहते-कहते उन्होंने गुल्लिकायी की सश्रद्धा नमन किया और अपने से भी उच्चासन प्रदान किया।

यह अजीब दृश्य था। आचार्यश्री के श्रीमुख से निकल पड़ा—'नरपुङ्गव चामुण्डराय तुमधन्य हो। संसारी मानव अपूर्ण होता ही है। तुम्हारे अन्दर विकार होना कोई नई बात नहीं।

किन्तु विकार को विकार मानना तुम्हारे अहंकार के घुल जाने एवं आत्मशुद्धिका ही परिणाम है, इससे मुझे परमसन्तोष हुआ है। आज से गुल्लिकायी और तुम्हारे उदाहरण धर्म के रहस्य को पूर्ण उजागर कर रहे हैं कि धर्म निष्कपट हृदय की भावना में है--द्रव्य क्रियाण्ड तो साधन मात्र हैं।

चामुण्डराय ने उसी समय सोच--समझकर घोषणा की कि गुल्लिकायीजीका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ; क्योंकि उन्होंने, उनकी सहज भक्ति ने मुझे आत्म-संशोधन का शुभावसर प्रदान किया। इस महान घटना की स्मृति में इस बिन्ध्यगिरि पर चढ़ने के मार्ग पर एक द्वार बनाया जएगा जिसका नामकरण भक्तमना गुल्लिकायी के नाम गुल्लिकायी-द्वार होगा, जो उनकी कीर्ति को अमर रखेगा।

जनता ने करतल ध्वनि से प्रस्ताव का स्वागत किया।

आत्मशुद्धि के उपरान्त चामुण्डराय ने सहज भक्ति-भाव से माँ के साथ भ० बहुबली की भक्ति वन्दना की। माँ की आखड़ी आज पूरी थी। उन्होंने सजल नेत्रों से जिनेन्द्र के चरणारबिन्द में श्रद्धांजलि समर्पित की!

विनयी छात्र

गुरुजी एक शिष्य के विनय गुणसे उसकी बहुत प्रशंसा करते थे। गुरु-पत्नी ने इसका प्रमाण देने का आग्रह किया। तो गुरुजी एकआम कपड़े से बाँध रुग्ग बनगए। सब छात्रोंने देखा और कहा अभी वैद्य को लाते है। गुरूजी बोले—यह वैद्य से अच्छा नहीं होता, एक बार पहले भी हुआ था तब मेरे पिता ने चूसकर ठीक किया, यह चूसने से ही ठीक होगा। पीव-मवाद भरे फोड़े को कौन चूसे? सब ठिटक गए किन्तु तभी वह विनयवान विद्यार्थी आया। पूछा—गुरूजी क्या कष्ट है? 'वत्स फोड़ा है चूसने से ठीक होगा।' उसने तुरन्त ही मुँह लगा दिया, फोड़ा तो था नहीं, उसे विनय का पुरस्कार, मधुरस, आमरस मिला। यह देख पण्डितानी जी को उसकी विनय पर विश्वास हुआ।

उत्तम आर्जव धर्म पर आधारित

★

कपटी बाबा

★

'अरे, कपटी, साधू नहीं सवाङ्ग, मुझ निहत्थे को छोड़ दे। इस निर्जन वनमें तू मुझे मौत के घाट मत उतार। देख पृथ्वी की घास, तांल में उठते हुए पानी के बलबूले, जड़ पदार्थ भी तेरे कपट को--धोखे को प्रकट करके रहेंगे।'

गैरिक वस्त्र धारण किए हुए महात्माओं के वेषको कलंकित करने वाले दुरात्मा साधु ने एक न सुनी। उसने अट्टहास करते हुए पथिक से कहा--'मुझे मत पढ़ा; तुझे छोड़ दूँ और तू मेरा भंडा फोड़ करे; मैं कच्चा खिलाड़ी नहीं" देखमैं तुझे अभी स्वर्ग लोक पहुंचाता हूं।' कहते हुए उसने पैने शस्त्रका प्रहार पथिक की गरदन पर कर दिया। पथिक का शिर धड़ से विछिन्न हो गया।

शव को पड़ा पाकर पुलिस ने अपराधी को ढूँढ़ निकालाने की बड़ी कोशिशकी, पर एकभी कारगर न हुई। आखिर मामला खुफिया पुलिस को सोंपा गया। एक सी० आई० डी० के पदाधिकरी इस खोज के लिए सन्नद्ध किए गए।

सी० आई० डी० महाशय को इस क्षेत्र में सिवाय बाबा जी के दूसरा आदमी तक नजर न आया। उसे कुछ इस साधु पर ही शकगया, तथापि बहुत चेष्टा करने परभी कोईसुराग न लगासका। किन्तु उसके कुशाग्र मस्तिष्कने एक युक्ति सोची: इससाधुका विश्वास-पात्र बनकर इसके रहस्यका उद्‌घाटन इसीके द्वारा करूँ।

वह बाबा जी का चेला बन गया। उनकी आठों याम ही बड़ी सेवा करता, टहल बजाता; कभी अवज्ञा का प्रश्न ही नहीं। साधूभी समझता खूब भाग्योदयसे ऐसा सेवाभावी चेला मिला है।

यद्यपि अपनी सेवाओं से सी० आई० डी० महोदय बाबा जी

के अभिन्न विश्वास पात्र आत्मीय जन बन गए तथापि वे हत्या का पता न लगा सके।

लगभग साल बीती, बरसात आई, ताल भर गया। पानी में बबूले उठ रहे थे, जिन्हें देखकर यकायक ही बाबा ने अद्भुत अट्टहास किया। इस असाधारण बात को देखकर चेले ने हँसने का कारण पूँछा, जिसे बताने से बाबा नट गया।

किन्तु चेले ने विशेष आग्रह किया—क्या कोई ऐसी भी गोपनीय बात है कि जो मुझे भी नहीं बताई जा सकती।

'नहीं बच्चा, तुझ से क्या छिपा है—व तुझ से क्या छिपाऊँगा ?'—साधू ने कहा।

'फिर आप बताते क्यों नहीं ?'

'कोई खास बात नहीं। कहते हुए बाबाने एक बार जल-बुद्बुदों को देखकर फिर अट्टहास किया'

'नहीं महाराज ! आपको बताना ही होगा।' चेला जिद कर गया।

बाबा भी आत्मीयता की भावनात्मक तरंग में वह रहा था, वह सहजावस्था में रहस्योद्घाटन कर गया—'कोई; एक साल पहले एक पथिक का मैंने लोभ के वशीभूत होकर इसी तालाब के किनारे बध किया था। मरने से पूर्व पथिक ने पानी के बबूलों को देखकर मुझ से कहा था कि तेरे कपठ को यह बबूले ही प्रकट करेंगे मुझे छोड़ दे।' मैंने तब उसकी बेबकूफी पर अट्टहास किया था 'भला निर्जन वन प्रदेश के बबूले मौत की गवाही देंगे।' और भी बातें होतीं रहीं किन्तु चेले ने अपने विषयमें कुछ भी पता न चलने दिया। लेकिन आज उसे अमिताह्लाद था, जैसे किसी साधक ने अनवरत साधना के बाद लक्ष्य पा लिया हो।

उसने समीप वर्ती पुलिस थाने को इत्तला कर दी कि उसने राहगीर के हत्यारे का पता लगा लिया है पुलिस उसे व साधूको जब वे उस तरफ आवें गिफ्तार कर ले।

कहना होगा कि कपटी बाबा अब अभियोगी बन गया।

धोखा

वृद्ध-वृद्धा ठेठ देहाती थे। रेल यात्रा का उन्हें कोई बहुत बार का अनुभव न था। वृद्धा को पोटली तथा फटी दरी, गुदड़ी का विस्तर सुपुर्द कर वह टिकट लेने गया। जाते समय वृद्धा ने कहा—'कर्ज लेकर रुपये लाये हैं, कहीं गवाँ न बैठना।' टिकिट खिड़की पर लम्बी कतार के पीछे वह भी खड़ा हो गया। करीबन आधे घन्टा हो गया अभी उसे टिकट नहीं मिल पाया है। अब वह लाइन के बीच में आ गया आधे से अधिक लाइन अब भी उसके पीछे खड़ी है। जरा-जर्जरित शरीर उसे बेदम किये है, किन्तु उसे आवश्यक रूप से जाना ही है। जैसे तैसे राम-राम करके उसने कानपुर के दो टिकट लिए। २० रु०·४० पै० बाबू के हुक्म के मुताबिक उसने चुका दिये। बूढ़ा देहाती हाँफता हुआ, वृद्धा को साथ लेकर प्लेटफार्म पर पहुंचा। अभी गाड़ी आने में देर थी। वह एक वृक्ष के नीचे जमीन पर बैठ कर सुस्ताने लगा। प्लेटफार्म पर भीड़ बहुत थी। गाड़ी आई, उसमें प्लेटफार्म से भी अधिक भीड़ थी, पैर रखने की भी जगह नहीं थी। किसी प्रकार घिघयाते, प्रार्थनायें करते उन्होंने एक डिब्बे में पैर रखने के लिए जगह पा ही ली। गलियारे में भी जगह न थी। टेड़ी कमर को बुढ़िया खड़ी है। वृद्ध भी डंडा टेके खड़ा है। वृद्धा बगल में पोटली दबाये है। छोटा-सा विस्तर भी भीड़ में दबा है। गाड़ी ने सीटी दी और चल दी। दो तीन स्टेशनों बाद जब फर्रुखाबाद में कुछ भीड़ कम हुई, तो इन्हें जमीन पर बैठने के लिए कुछ स्थान मिल गया। रास्ते की जगह थी। जो भी सवारी उतरती चढ़ती, बिना अपराध के ही उन्हें वह पाद-चापों का, वाक वाणों का भाजन बना रही थी। ज्यों-त्यों कर आखिर कानपुर आ ही गया। वे कानपुर प्लेटफार्म पर उतरे। टिकट चैकर ने आकर बूढ़े बाबा से कहा—'दिखाओ अपने टिकिट।' उसने अपनी फेंट से टिकट निकाल कर दिये। देखते ही टिकिट

बाबू ने कहा—'तुम लोग कहने भर को ही गॅवार हो, पढ़े लिखों के कान काटते हो। क्यों बाबा ! टिकिट फर्रुखाबाद की ली और सफर कर रहे हो कानपुर का। अब चलो सफर करो जेल का।'

'क्या कह रहे हो बाबू साहब, हम तो कानपुर का टिकट खरीदा है। २० रु० ४० पै० दो टिकटों का बाबू ने लिया।'

'तुम्हारा टिकिट तो फर्रुखाबाद का है। तुमने टिकिट को किसी पढ़े लिखे से पढ़वाया क्यों नहीं ?'

'बाबू हमें क्या मालूम था कि टिकिट बाबू भी हमारे साथ धोखा करेगा ? हमने तो पूरे पैसे दिगे, टिकट कानपुर का लिया, आप कहते हो कि टिकट फर्रुखाबाद का ही है।'

टिकट कलक्टर ने कहा, 'तुम किसी पढ़े लिखेसे टिकट पढ़ा कर देखलो।'

'बाबू आप तो पढ़ा लिखा है और हम किससे पढ़वालें, हम गरीबों पर रहम करो।'

टिकट कलक्टर ने झिड़कते हुए कहा—'हम दया करने वाले कौन होते हैं ? गर्वमेन्ट हमें इसी बात की तनुखाह देती है कि हम टिकटों की जॉच पड़ताल करें। अब तुम्हें फर्रुखाबाद से यहां तक का किराया और पैनेल्टी, सब मिला कर तीस रुपये देने होंगे यह सुन कर बुढ़िया चीख पड़ी, 'अरे बापरे बाप, कर्ज से लिये रुपये सब इन्हींको होंगे, हायरे !' इस सरगर्म बातको सुनकर अनेक यात्रियों ने आकर बृद्ध-बृद्धा व टीटी महोदय को घेर लिया। टिकट कलक्टर कह रहा था, 'आज कल देहाती गवांर आदमी बहुत ही वेटिकट सफर करते हैं। और बड़े भोले बन जाते हैं।' किन्तु बुढ़िया का आर्तनाद और बूढ़े का निष्कपट ब्यान वस्तु स्थिति का उद्‌घाटन कर रहा था। 'बहुत से देहाती धूर्त मक्कार होते होंगे। परन्तु सीधे-साधे यह बृद्ध-बृद्धा निश्छल प्रतीत होते है।' —शब्द, किसी निष्पक्ष दर्शक के मुख से स्वतः निकल पड़े।

फिर भी टिकट कलक्टर अपने निर्णय पर दृढ़ था, वह अपनी

कर्तव्य-परायणता का प्रदर्शन कर रहा था, जबकि दर्शक टिकट बांटने वाले बाबुओं से ठगे जाने के अपने उदाहरण सुना रहे थे।

एक महानुभाव बोले—'आज-कल के रेल एवं रोड़वेज की बसों के टिकिट बाँटने बाले बाबू जनता रुपया दे और यदि १०-१५ पैं० बापिस होने वाले हों, तो ये लोग रेजगारी स्टोक में होने के बाबजूद भी पैसे बापिस नहीं करते, किसी ने यदि पैसे बापिसकरने के लिये जोरदार शब्दों में कहा, तो उससे कह देते हैं, जाइये खुले पैसे ले आइये ? वह वेचारा छिल्लर (रेजगारी) की किल्लत के जमाने में कहाँ जाये और क्या लाये ? फलतः अपने पैसे गंवा कर कुछ देर बौखला कर चुप हो रहता है।

काई कह रहा था, 'मेरे को ऐसे ही एक बार शिकोहाबाद लाइन पर १०) की चपत लगी थी। हम तो पढ़े भी हैं; पर टिकट नहो देखा था।'

यद्यपि बृद्धा और बृद्ध रोये और गिड़गिड़ाए परन्तु उनकी एक न चली।

जवकि इन्हीं टिकिट चैकर ने अन्य वेटिकटों से खासी रिश्वत लेकर छोड़ दिया। किन्तु ये भाग्य हीन थे।

अन्त में उन्हें अपनी अन्टी से ३०) देकर ही पिड चुकाना पड़ा।

बुढ़िया का चेहरा तम-तमा रहा था। और उसके मुख-द्वार से टिकिट बांटने वाले बाबू और रेल कर्मचारियों के लिए सर्वनाश की बददुआयें निकल रहीं थीं। भीड भरे मार्ग से पुल पर होकर स्टेशन के बाहर अपनी रेल यात्रा समाप्त कर ये थके-हारे जीवन यात्री अपने गन्तव्य की टटोल में यात्रियों की भीड़ में अन्तर्ध्यान हो गये।

× × ×

गिरीश जो कि अभी कुछ दिन हुए अपनी विदेश यात्रा से स्वदेश लौटा था, कानपुर सेन्ट्रल पर बृद्ध-बृद्धा की दुर्घटना का प्रत्यक्ष दर्शी था। वह अपने अभिन्न मित्र से कह रहा था

कि 'हमारे देश का माहौल बहुत बिगड़ गया है। यद्यपि विदेशों में भी धोखादेयी की घटनायें होतीं है, किन्तु उनका आम रिवाज-सा नहीं है।'

'आप ठीक ही कहते हैं, यहां तो हर जगह छल और धोखा ही है। यहांके समाचार पत्र और अडोस-पडोस ऐसी ही घटनाओं से भरे रहते हैं।'

'मैं तो जल्दी ही वापिस अमरीका जाऊंगा।'

'तो क्या वहां इस प्रकार की घटनायें नहीं होतीं ?'

'होती होंगी, किन्तु वहां का राष्ट्रीय चरित्र यहां से बहुत भिन्न है। मैं एक बार चार्लस्टन उपनगर गया वहां एक बड़ा ही आत्म विश्वासी मिष्ठ भाषी अन्धा व्यक्ति था। उसने आजीविका के लिए अन्धे होते हुए भी भिक्षा वृत्ति कबूल न की और अपनी आजीविका के लिए उसने अपने ही मकान पर एक होटल खोल रखा था। कुछ ईमानदार कर्तव्य निष्ट सेवा भावी कर्मचारी रख लिए थे। अन्धे के मिष्ट व्यवहार की छाप उन कर्मचारियों पर भी पड़ी थी। वे मधुर सम्भाषण के साथ योग्य खाद्य-पदार्थ समुचित मूल्य पर उपस्थित करते थे। ग्राहक से दामों के लेने-देने का काम अन्धे मालिक ने स्वयं अपने ही ऊपर ले रखा था। उसने अपने गल्ले (मनीवेग) में बहुत से खाने बना रखे थे, जिनमें हर प्रकार के सिक्के का खाना निर्धारित था। टटोल-टटोल कर वह दामों का लेन-देन करता रहता था। उपनगर में इस होटल की बड़ी ख्याति थी। मैं भी अपने विदेशी मित्र के साथ काफी पीने वहां पहुंच गया। जब हम अन्धे महोदय के समक्ष बिल चुकाने पहुंचे तो मैंने जिज्ञासा वशात उन अन्धे होटल मालिक से प्रश्न किया कि 'महाशय जी, आप सिक्के तो टटोल कर समझ लेते है, किन्तु नोट यदि ५ डालर का दे, और १० का बता दें, तो आप बड़ा धोखा उठा जाते होंगे।'

सस्मित अन्धा होटल मालिक बड़ा गम्भीर हो गया। बोला, ऐसा कभी नहीं होता। हां लोग मुझे ठगते हैं लेकिन उनका

रास्ता दूसरा ही होता है। वे मुझे १० डालर का नोट देते हैं और पांच का बताते हैं।' गिरीश कहे जा रहा था कि 'मैं इस उत्तर को सुन कर अवाक रह गया।'

उसका अभिन्न मित्र बोला—'वास्तव में ऐसी व्यवहार की चरित्रनिष्ठा हमारे देश में कहाँ रखी! जो हम स्वयं के ठगे जाने पर सुख मानें और दूसरे का ठगने को दुःख।'

'किन्तु सहज सरलताका आदर्श रखनेवाले पुरातन भारतका दृष्टिकोण दूसरा ही था। किसी प्राचीन कविने ठीकही कहा है—

'ठगिये कभी न भूल कर, कोटि क वैरी होय।
आप ठगाए सुख सदा, और ठगे दुख होय॥'

'आप ठगेमें सुख होना क्यों कहागया है, जरा स्पष्टकीजिए।'

'भारतीय श्रमण संस्कृति का कर्म-सिद्धान्त में अटूट विश्वास है। हम मानते हैं कि हमने जो कर्म किये हैं, वे हमारे उदय में आते हो हैं। किसी प्रकार का धोखा व ठगी का होना पूर्वकृत कर्मों का ही प्रतिफल है। भला पुराना कर्म कर्ज, चुका कर कौन ज्ञानी सुखी न होगा?'

'अच्छा-अच्छा, अब मैं समझा, निश्च्छलता यानी मन, बचन, एव काय की सहज सरलता भी अपूर्व मानव धर्म है।'

'जैनलोग इसेही आर्जवधर्म कहते है जो बड़ाही विलक्षण है।'

निष्कपटता—मानव धर्म

'साढ़े सत्रह रुपये मन का लेंगे।'

'ये तो कम दाम हैं! गेहूँ अच्छा है, कुछ और बढ़ाइए।'

'अच्छा तो पौने अठारह सही। इससे अधिक तर न लूंगा।'

'अच्छी बात है, कब लीजिएगा?'

'शाम को तुला लूंगा।'

क्रयकर्ता सेठ जब जाने लगे तो विक्रेता ने चाय का आग्रह किया और चाय की व्यवस्था अपने पुत्र पर छोड़ कर स्वयं एक जरूरी काम से बाहर चला गया।

सेठ जी, बेचाल के लड़के एवं उसके मित्र के साथ चाय पी रहे थे, तो लड़के ने कहा— 'सेठ साहब, हम आपसे कपट नहीं करते। मेरे पिताजी ने जो आपको गेहूँ दिखाए वे साफ किए हुए गेहूँ हैं। सब माल इतना साफ नहीं है। बहिन की शादी के कारण गेहूँ बेचने पड़ रहे हैं, वैसे हमारे यहाँ स्वयं ही वर्ष भर के प्रयोग से अधिक नहीं हैं। गेहूँ का अच्छा भाव मिले तो बहिन की शादी ठीक हो—इसी भाव से मेरे पिता जी ऐसा कह गए, इस कृत्यसे उन्हेंभी आन्तरिक दुखही रहा होगा। मैंने आप को सब वस्तुस्थिति प्रकट करदी। अब आपकी जो मर्जी हो सो करें।

सेठ लड़के के मुखकी ओर देखता ही रह गया। बोला— 'बेटे तुमने ठीकहा कहा। आखिर ईमानदारी भी तो मानवधर्म है।'

सेठ चला गया। लड़के और उसके मित्र को कम विश्वास था कि अब सेठ माल लेने आयेगा। लड़के ने अपने मित्र से हृदयोद्‌गार व्यक्त कर ही दिये—'मित्र बुरा माल देकर हम अच्छे पैसे कैसे ले सकते हैं ?

शाम हुई। लड़के और उसके मित्र के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उसने देखा सेठ साहब आए और अपने साथ तौला (तौलने वाला व्यक्ति) व पल्लेदार (भार वाहक मजदूर) भी लाए। बोले भाई गेहूँ ठीक हैं, मुझे पसंद है। अच्छी चीज का मूल्य भी उचित ही दिया जाना चाहिए। अतः दाम भी पूरे अठारह के दूँगा ? सेठ जी की बात लड़के की समझ में नहीं आ रही थी। किन्तु माल तुला दिया गया। सेठ ने मूल्य भी अठारह के भाव से पूरे का पूरा चुका दिया। माल लेकर चलते समय बोला—'भैया मैं तुम्हारे निष्कपट व्यवहारसे बड़ा प्रभावित हुआ हूँ। तुम जैसे भले खानदानी चरित्र निष्ठोंका सहयोग करनाभी मानवधम है तिसपर तुम्हारे यहां बहिनकी शादी है।

यद्यपि लड़के का उसको निष्कपटता का पुरस्कार मिल गया था, किन्तु कद्रदां उदार सेठ की निश्च्छलता भी एक आदर्श उदाहरण बन गई थी।

उत्तम सत्य धर्म के आलोक में–

★

सत्य-सिंहासन

★

'आर्य पुत्र ! आप जैसे राज-मान्यता प्राप्त कुशल शिक्षक की शिक्षा के बाद भी आपका पुत्र पर्वत तो पूरा निरक्षर भट्टाचार्य ही रहा है। उसे ईंट-पत्थर भी नहीं आता। लगता है आप बाहर के लड़कों को भली प्रकार पढ़ाते हैं, किन्तु अपने पुत्र पर ध्यान नहीं देते।'

'नहीं; शुभे ! तुम्हारा यह सोचना भ्रान्त है। वीतराग श्री जिनेन्द्र भगवान का अनुयायी सेवक— यह क्षीरकदम्ब कभी दोहरी नीतिको नहीं अपना सकता। मैं दुराचारी, मूढ़, पातकी पर्वत के दुर्भाग्य को सौभाग्य में नहीं बदल सकता हूं। जैसे काली कमली पर केशर का रङ्ग ही नहीं चढ़ता, उसी प्रकार मेरे सदुपदेशों का पर्वत के क्रूर कलुष हृदय पर कोई असर ही नहीं होता।

'क्या तुम्हें उस दिन की याद नही जब कि अपने वर्तमान सम्राट विश्वावसु के पुत्र विद्यार्थी बसु की स्वर्ण मुद्रिका कैसे ही गिर गयी थी और बह विदेशी ब्राह्मण छात्र नारद को मिली; नारद ने तत्काल वह ही मुद्रिका पर्वत को यह कहकर देदी कि यह राजकुमार की मुद्रा मुझे मिल गयी आप इसे गुरुजी को कहकर राजकुमार के पास पहुचा देना। हम लोग यह सब अपनी छत से देख रहे थे। किन्तु तुम्हें तो यह मालूम ही है कि तुम्हारे पुत्र पर्वत ने वह मुद्रिका बेचकर और उसकी राशि जिह्वा लम्पटता एवं विषयों में गँवा दी। कुछ होनहार ही कह लो या पर्वत वसु की मित्रता, जो उस स्वर्ण अँगूठी की बात आई-गई हो गयी।

लेकिन तुम्हारा पापी पुत्र पर्वत नारद से स्वर्ण मुद्रा प्राप्त करने के सत्य को ही नकार गया था, जब कि नारद न मुद्रा मिलने पर भी न उसे छिपाया और न इस विषय में कुछ असत्य कहा।'

'सचमुच ही पर्वत बड़ा कुटिल परिणामी है और हिंसासे उसे जरा भी भय नहीं लगता।'

'परन्तु प्रत्येक जीवको अपनी करनी स्वयं ही भुगतनी पड़ती है।'

'फिर भी कुछ उपाय तो करना ही चाहिए।'

'स्वस्तिमति ! क्या कहूं ? होनहार बड़ा दुर्निवार है, वहाँ कोई तदवीर काम नही करनीअभी कलही की बात हैं जब मैं नगर के बाहर वन-प्रांगण के एकांकी रमणीय क्षेत्र में बृहदारण्यक पाठ पढ़ा रहा था, तो वहीं पर दो चारण ऋद्धधारी ऋषिराजों की आपसी बातें मेरे कर्णकुहरों में आ पड़ी।उनमें बृद्ध मुनि अवधि ज्ञानी थे। जब छोटे मुनि ने कहा देखो कैसे पवित्र क्षेत्र में शिक्षक जी छात्रों को पढा रहे हैं ? तो बृद्ध अवधि ज्ञानी मुनि का उत्तर था कि क्षेत्र तो पवित्र हैं किन्तु इन चार में दो पुण्यात्मा है और दो पापात्मा। पुण्यात्मा स्वर्ग जायंगे और पापात्मा नरक। मैं पढ़ाने के बाद छात्रों को बिदा करके मुनिराजों के पास गया और पूछा, 'भगवान ! अभी आपने कुछ देर पूर्व कहा कि हममें से दो स्वर्गगामी एवं दो नरकगामी होंगे। कृपया बताइए कि कौन स्वर्ग जायगा और कौन नरक ?'

शिक्षक की जिज्ञासा का समाधान करते हुए बृद्ध विरक्त मुनिराज सहज हो बोले कि 'तुम और नारद भद्र परिणामी हो, सो कालान्तर में शुभकर्म से स्वर्ग को प्राप्त होंगे किन्तु, शेष दो पापात्मा हैं वे नरक जावेंगे। मुनिराजों को नमस्कार कर मैं चला आया हे स्वस्तिमति ! जैन मुनि की बात मिथ्या नही हो सकती। कर्म सिद्धान्त भी यही कहता है-'जो जस करै सो तसु फल चाखा।'

एक दिन राजकुमार वसु से कोई पापाचार बन पड़ा और शिक्षक क्षीर कदम्ब उसे बुरी तरह पीटने लगे। तब गुरुपत्नी

स्वस्तिमती ने आकर उसे बचाया। इस पर राजकुमार गुरुमाता से बहुत प्रसन्न हुआ और 'बोला आपको जो चाहिए सो मांग लो।' स्वस्तिमती ने उत्तर में कहा—'यदि तुम प्रसन्न हो हो तो हमारा वर भंडार में रखो, जब आवश्यकता होगी, तब मांग लूँगी।'

× × ×

समय जाते देर नहीं लगती।

कुछ दिनों बाद महाराज विश्वावसु को प्रकृति में होते हुए आमूल चूल परिवर्तनों को देखकर सहज ही वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने जन्ममरण की सन्तति मिटाने वाली जैनधर्म की निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली। युवराज वसु राज-सिंहासन पर अभिषिक्त हो आसीन हुए।

एकबार वे वन विहार को गए। वहाँ उन्होंने देखा कुछ दूर पर एक पक्षी किसी अदृश्य पदार्थ से टकराकर गिर गया है। उसी दिशा में वसु ने अपना तीक्ष्ण वाण चला दिया, तो उन्हें कोई वस्तु धराशायी होती हुई प्रतीत हुई। समीप जाने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि यह एक स्फटिक मणि का विशालकाय पाषाण खंड है। वे उसे गुप्तरीति से राजमहल ले आए और उसके चार खम्भे बनवाकर अपने दरबार में राज सिंहासन के स्थान पर स्थापित किए, जिनके ऊपर कि अपना राज-सिंहासन ही जड़वा दिया। स्तम्भ स्फटिक पाषाण के होने के कारण सिंहासन निरा-धार दिखलाई देने लगा। अतएव राजा वसु ने यह घोषणा करा दी कि मेरा सिंहासन सत्यवादिता के प्रभाव से ही आकाश में निराधार ठहरा हुआ है। इस भांति इस छल छद्म की टट्टी के पीछे छिपकर वह बहेलिया के समान जनता रूपी पक्षियों का शिकार करने लगा।

× × ×

इधर जिनभक्त क्षीरकदम्ब अपने दुराचारी पुत्र की आंतरिक पापलीला देखकर बड़ा ही विरक्त हुआ और उसने संसार-नाश

का उपाय सम्यकतप अंगीकार कर लिया। पर्वत सम्राट बसु का सहपाठी और एक जैसी प्रवृत्ति होने के कारण बसु की कृपा से अपने पिता के रिक्त स्थान राज्यमान्य शिक्षक के पद पर आसीन हुआ। सत्य-धर्म की मूर्ति के समान नारद ब्रह्मचारी श्रावक की अवस्था में लोक में विहार करता हुआ एक बार अपनी शिक्षा-भूमि स्वस्तिपुरी में आया। उसकी अभिलाषा, अपने छात्र मित्र पर्वत से मिलने की हुई और वह जा पहुंचा अपने शिक्षा गुरु के आवास स्थान पर, जहां कि अब, शिक्षागुरु-पुत्र पर्वत का शिक्षा-शासन था। उसने देखा पर्वत विद्यार्थिकों को कर्मकांड पढ़ा रहा है। श्रुति थी 'अजैर्यं यष्टविमिति' जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'अज' से होम करना। 'अज' के कई अर्थ होते हैं। बकरा, वृह्मा और तीन वर्ष पुराना धान, जो कि उपज न सके। ये तीन अर्थ ही प्रमुख हैं पर्वत ने पापाचार की रुचि होने के कारण 'अज' का अर्थ बकरा बताया।

आगन्तुक धर्मात्मा नारद से यह अर्थ का अनर्थ सहन न हुआ और उसने आपत्ति की—'गुरुभाई पर्वत ! आपके पिता—हमारे शिक्षा गुरू ने तो 'अज' शब्द का अर्थ कुछ और ही बताया था। तुम्हें स्मरण होगा, उनकी व्याख्या थी—

'अजैस्त्रिवार्षिकैर्धान्यैः प्रयष्टव्यम्।'

अर्थात तीन वर्ष पुराना धान जिसमें कि उग सकने की शक्ति ही नहीं रहती, के द्वारा यज्ञ करना चाहिए। किन्तु दुराग्रही भ्रष्टाचारी पर्वत भला इस सत्य को कब कबूल करने वालाथा बाद-विवाद बढ़ते-बढ़ते वितंड़ावाद हुआ जा रहा था कि उन्होंने आपस में यह निर्णय किया कि जिसका अर्थ गलत हो, उसकी जीभ काट ली जाय। निर्णय के लिए राजा वसु मध्यस्थ चुने गये। जब यह बात पर्वत की माता स्वस्तिमति को ज्ञात हुई तो उसने अपने दुष्ट पापी पुत्र को डांटा, और कहा— 'तुम्हारे पिता सच्चे जिन-भक्त भला 'अज' का अर्थ बकरा कैसे बतला सकते थे ? तुम महा मूढ़ पापी अर्थ का अनर्थ करते, तुम्हें धर्म

नहीं आती।' किन्तु वेशर्म पर्वत पर कुछ असर न हुआ और उसने माँ की एक बात भी न सुनो, न मानो। स्वस्तिमति यद्यपि इस समय वस्तु सत्य को जान रही थी, फिर भी वह पुत्र-मोह में विचलित हो गई। विचारने लगी कि मेरे घर का इकलोता टिमटिमाता चिराग भी बुझ जाएगा। अतः उसने राजा वसु से जाकर सब वृतान्त कह सुनाया। वसु छात्र जीवन में स्वस्तिमति के संरक्षण से एक बार वचन बद्ध हुए थे। आज अपने पूर्व दिये हुए वर के निर्वाह मे उसने यह सोच कर मेरा इस तनिक से झूठ कहने पर भी क्या बिगाड़ होगा? मेरी लोक में तो सत्यवादिता न्यायप्रियता की ख्याति है ही, उस पर भला क्या आंच आने की। पर यह उसे सत्य न मालूम था कि झूठ की नाव मझधार में ही डुबा देती है।

× × ×

राज दरबार। दरबारी अपने-अपने आसनों पर और राजा अपने निराधार लोक प्रसिद्ध रत्न जड़ित सत्य-सिंहासन पर जमे थे। पर्वत और नारद ने अपने-अपने पक्ष प्रस्तुत किए। किन्तु भरी राजसभा में ज्यों ही राजा वसु ने अपने पूर्व निर्णयानुसार 'अज' शब्द का अर्थ 'बकरा' बतलाया त्यों ही स्फटिक स्तम्भ यकायक टूट गये और सिंहासन जमीन पर आ गिरा। इस पर नारद कहने लगा, 'हे मित्र! आप अब भी अपनी त्रुटि का परिमार्जन कर लीजिए अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। असत्य भाषण से आत्मा को दुर्गति में न ले जाइए। परन्तु जैसे जलने पर भी रस्सी की ऐंठ नहीं जाती। ऐसे ही अपनी दुर्दशा देखते हुए भी उसका मिथ्या अहंकार मिटा न था। उसने पुनः पर्वत के अर्थ की पुष्टि कर डाली। इतना कहते ही उस की हृदगति रुक गई और अन्ततोगत्वा मिट्टी में ही मिल गया। दुरागृही पर्वत की यह प्रत्यक्ष दुष्टता देखकर विवेकी सम्भ्रान्त दरबारिक एवं प्रजा जनों ने उसे गधे पर चढ़ा कर नगर से निष्कासित कर दिया। और सब शास्त्रों में पारंगत सत्यवादी

नारद को बड़ा ही आदर सत्कार स्नेह प्रदान किया। वह वहीं रह कर लोगों को धर्मोपदेश करने लगा। वसु के उत्तराधिकारी राजा से भी नारद ने अभूत पूर्व सम्मान प्राप्त किया।

सत्यवादी नारद तात्विक ज्ञानी था। उसने किसी एक समय अपने श्वेत केश देख कर दिगम्बर जिन मुद्रा अंगीकार करली और सम्यग्चरित्र पालने लगा। आयु के अन्त में समाधिमरण कर सर्वार्थ सिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुआ।

वहां से चय कर मनुष्य हो मोक्ष प्राप्त करेगा। सत्य-सिंहासन धराशायी हो सत्य भंजक राजा वसु के असत्य की सत्य कहानी ही बन कर रह गया और सत्य निष्ट नारद सत्य को ईश्वरता का अमर सत्यवादी ही बन गया।

'सत्यमेव जयते'— सत्य की सदा जय होती है।

—:※:—

अद्भुत सत्य—मन्त्र

श्री १०५ क्षुल्लक सत्यसागर जी का प्रवचन नगर के बाहर उद्यान में सत्य-धर्म के विषय पर ही धाराप्रवाह चल रहा था। 'प्रमाद अर्थात कषाय के वशीभूत होकर जो कुछ भी अन्यथा कहा जाता है, वह सब असत्य ही है। असत्य भाषी का कभी सुधार नहीं होता, जब कि सत्यव्रत लेने से पामर पापियों का भी उद्धार हो जाता है। झूठ वचन अनेक होते हैं, लेकिन उनमें चार मुख्य हैं—

पहला असत्य सद्पलाप है। जो वस्तु विद्यमान हो उसे नकार जाना सदपलाप है। जैसे अनुभूत आत्मा के अस्तित्व को ही न मानना।

दूसरा भेद असदुद्भावन है, जिसका अभिप्राय अविद्यमान की विद्यमानता बता देना है। जैसे लोटा न होने पर भी कह देना यहाँ लोटा है।

तीसरे भेद में वस्तु कुछ है और उसको कुछ और ही बता दिया जाता है। जैसे दूध को पानी या पानी को दूध कह देना।

निन्दनीय पापाचार सम्बन्धी, चुगलखोरी, अप्रिय वचन चौथे प्रकार के असत्य वचन हैं। यों असत्य वचन एक ओर जहां आत्मा को पतनोन्मुखी करते हैं वहां दूसरी ओर समाज में विसंवाद, कदाचार अशान्ति, अपयश आदि दुर्गुणों को उत्पन्न करते हैं। इसके विपरीत सत्य जहां स्वयं एक सद्गुण है, वहां वह अन्य क्षमा-मार्दव आदि सद्गुणों को निमंत्रण देता है। सत्य धर्म भले ही कठिन कहा जाय, किन्तु इससे लोक में यश-परिमल विकीर्ण होता है और आत्मोदय होता है। आज भी सत्य हरिश्चन्द्र का नाम अमर है। निश्चय से देखा जाय तो सत्य आत्मभाव है, जो कठिन नहीं है। कठिन तो मृषा-वचन हैं। एक झूठ बोले, तो उसे छिपाने के लिए अनेक झूठ बोलने पड़ते हैं, जब कि सत्य राजमार्ग है।

कि अचानक एक हृष्टापुष्ट भयानक आकृति श्रोताओं में से उठी और उसने क्षुल्लक जी के पैर पकड़ लिए। उसके नेत्र सजल थे।

'भाई, तुम कौन हो, बड़े दुखी प्रतीत होते हो, आओ बैठो'— विना क्रोध लाए ही वात्सल्य भाव से समीप ही बैठाते हुए क्षुल्लक जी ने कहा।

'मैं एक वदकिस्मत आदमी हूं, देवीसिंह हूँ।'— उसने अपने विषय में बताया।

'देवीसिंह, देवीसिंह डाकू?' और भय की एक लहर-सी लहर गई।

'महाराज मैं भी भला जीवन जीना चाहता हूँ, उपाय बताइए।'

'तुम अपने दुष्कर्म डाका डालना, लूट-पाट, कत्ल करना आदि छोड़ दो।' सन्त ने नेक सलाह दी।

किन्तु दस्युराट देवीसिंह का उतर था— 'महाराज! वह मुझ से न हो सकेगा। बुरी लत पड़ गई है, इनके बिना तो मैं जी ही नहीं सकता। कोई और उपाय बताइए।'

क्षुल्लक जी बड़े संकट में पड़ गए। किन्तु वे बहुत गम्भीर होकर विचारने लगे कि अचानक ही उनका चेहरा खिल उठा, जैसे उन्हें कोई कारगर समाधान मिल गया था। बोले,—'भाई देवीसिह, डाका, लूट-पाट, तो तुम अभी छोड़ ही नहीं सकते, तो एक काम करो यह कि अपने रोज के भले बुरे जो काम तुम करो, वह प्रतिदिन या दूसरे तीसरे दिन हमारी सभा में आकर सच-सच सुनाया करना और यदि आप लिख सकते हों तो उन्हें प्रति दिन लिखते भी जाना।'

देवीसिंह को यह बात जंच गई, उसने स्वीकारोक्ति की और विनय वन्दना कर चला गया।

क्षुल्लकजी ने अपने प्रवचन को पुनः जारी किया—'हमारे बहुत से भाइ तो कुख्यात डाकू देवीसिंह क इस अप्रत्याशित आगमन से बड़े ही आतंकित हुए होंगे लेकिन सत्य मानिये, इस डाकू का काया-कल्प होकर रहेगा। कुछ इसी प्रकार की इस प्रसंग में मुझे एक घटना याद आरही है, जो मैंने अपने गुरुदेवसे सुनी थी—

'एक राज-पुत्र था जिसे चोरी की बुरी लत पड़ गई थी। पुत्र का यह दुष्कर्म नृपति को असहनीय था। अतः उन्होंने उसका गृह-निष्कासन कर दिया।

अब राजकुमार खुले आम चोरी करने लगा।

दैवयोग से उसे किसी दिन किन्हीं मुनिराज का धर्मोपदेश श्रवण करने का सौभाग्य मिला। वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने असत्य वचन सम्भाषण का त्याग कर दिया।

'एक दिन वह किसी दूसरे राजा के महल में चोरी करने के लिए गया। द्वारपाल व अन्य कर्म चारियों ने पूछा, 'कहां जाते हो।'

'चोरी करने जाता हूँ।' उसका संक्षिप्त उत्तर था। राज-पुत्र वह था ही, शरीर सुन्दर और सुगठित। पहरे वाले दीवान ने सोचा कि चोर चोरी करने की बात कह कर थोड़े ही चोरी करने घुसेगा। यह अवश्य ही कोई महाराज का स्नेही व्यक्ति

है, तभी लगता है कि यह हमारी हँसी कर रहा है। अतः उसने राज-पुत्र को महल में जाने दिया।

राजकुमार चोर था ही, उसने बहुतसा सामान चोरी करके एकत्रित कर लिया। थक जाने से वह सामान को छोड़, वहीं सो गया। प्रातःकाल लोगों की निगाह उसपर पड़ी। तो लोगों ने पूछा—'तुम कौन हो ?' उसने यही उत्तर दिया —'मैं चोर हूँ। चोरी करने आया हूँ। तथापि लोगों को विश्वास न हुआ कि यह चोर ही है।

राज-पुत्र विचारने लगा कि सत्य कितना गुणवान है। मेरे चोर होने पर भी सत्य वचन कहने से लोगों को यह विश्वास ही नहीं होता कि मैं चोर हूँ क्यों कि चोर सत्यवादी होते ही नहीं। जब एक ही पाप छोड़ने की इतनी महिमा है, तो फिर सब पापों के त्यागने का कहना ही क्या ? यह विचार कर वह मुनिराज के पास आया और उसने सब पापों का त्याग कर दिया तथा स्वयं महाव्रती मुनि हो गया। यही बात आप सभी देखना डाकू देवीसिंह पर भी चरितार्थ होगी।

× × ×

दूसरा दिन हुआ, तीसरा दिन हुआ, चौथा दिन भी बीत गया, किन्तु डाकू देवीसिंह न तो क्षुल्लक जी के पास ही आया और न ही उसने अपने काले करनामों पर प्रकाश ही डाला। बात यह थी कि लेखा-जोखा तो कर लिया, किन्तु उसे क्षुल्लक जी के सामने प्रस्तुत करने का साहस ही न हुआ। जिसे इन्सान की जानसे खिलवाड़ करने में जरा भी तरस न आता, वह कितना कमजोर कि इन करतूतों के कहने तक का साहस नहीं। खुद ब खुद अपने कारनामों को पढ़ कर वह पानी-पानी हो रहा था। आत्म-निन्दा, गर्हा से उसका हृदय सरावोर हो रहा था। उसके ही दुष्कर्म उसे कचोट रहे थे। उन्हें भरी सभा में सुनाना उसके लिए दुसवार था, अब वह अपने दुष्कर्मों को छिपा भी न सकता था, क्योंकि उसे अपनी सत्य प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहना

था। उसकी आखड़ी थी कि वह सब कुछ सच-सच लिखेगा और सच-सच कहेगा। आखिर उसके हिंस्र हृदय ने पलटा खाया। परिवर्तन। उसके अन्तर मन पर क्षुल्लक सत्यसागर के सत्य धर्म की गहरी छाप पड़ी थी। उसने बुराई के सारे ही दुष्कर्म छोड़ दिये। चोरी डाका, कत्ल आदि से वह विरक्त हो गया।

उसके विचारों में आया कि जो बात न लिखी जा सकती है और जो न भरी सभा में कही ही जा सकती वह वास्तव में पाप है ही, जो महा लज्जा का विषय है, उसका हृदय आत्म-ज्ञान से भर गया, किन्तु उसके निरन्तर आत्मालोचन ने उसे पवित्र कर दिया।

लोगों ने देखा और जाना देवीसिंह अब डाकू नहीं रहा। वह दूसरों को सताने में आनन्द नहीं मानता। उसके हृदय में पर दुःख-कातरता है। वह दूसरों को विपदा सुन कर तड़प उठता है। सारांश यह कि वह एक पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला सुसभ्य व्यक्ति बन गया है, जिसे अब अपने किसी कर्म के लिए कोई लज्जा नहीं आती।

एक दिन वह क्षुल्लक सत्यसागर जी के पास पहुंचा और उनके प्रति अपना आदर भाव व्यक्त किया। ठीक ही है, सज्जन उपकार को कभी नहीं भूलते। आखिर सत्यसागर जी के सदुपदेश से उसने यह सत्य निष्ठा अर्जित की थी। अब उसे स्पष्ट अनुभव था कि सत्य ही सारभूत है —'सच्चं लोयम्मि सारभूयं।'

देवीसिंह आया और उसमें पूर्वापेक्षित काया-कल्प देख सत्य सागर जी सहर्ष बोले—'भाई देवीसिंह, तुमने सत्य-मन्त्र को अपना कर अपनी राक्षसी वृत्ति ही सदा सर्वदा के लिए छोड़ दी, तुम सच्चे देवीसिंह ही नहीं बने वरन् लोक के समक्ष सत्य आदर्श भी प्रस्तुत किया। मैं तुमसे बहुत-बहुत प्रसन्न हूँ।'

देवताओं के समान देवीसिंह अपने उपकारक निमित्त गुरु-पुरुष के प्रति भक्ति श्रद्धा से अभिभूत था और उसका कण्ठ गद्गद्।

सच्चाई की बढ़ाई

'हम डिग्री होने पर पाँच प्रतिशत ही देंगे।'

'नही भाई लालाराम, दस प्रतिशत से कम में यह जालसाजी का काम करनेको तैयार नहीं।'

'अच्छी बात है, अब जैसा तुम चाहते, वही सही। मुझे तो बच्चू सज्जनराम को खाकीन करना है। हमारी साझे की दूकान तो खूब चली थी लेकिन सर्वेसर्वा तो मैं था, लेनपत्र और लिखा पढ़ी मेरे जिम्मे थी ही। आमदनी मैं अपनी अण्टी करता और वही खाता फर्जी भर देता।'

'तभी तुम्हारा बटवारा हो गया।'

'उसमें भी जीत मेरी रही। नगदी मैंने ली कर्जे की दूकान सज्जनराम के हक में छोड़ी। भवन के पच्चीस हजार अलग बसूल किए। तिस पर भी अब लगता है कुछ ही दिनों में उसकी दूकान खूब चमक जायेगी और मेरी दूकान में उससे दूना पैसा लगा फिर भी लगता है मैं पिछड़ जाऊंगा—यह मैं कैसे वर्दाश्त कर सकता हूँ इसी का तो यह उपाय है। उसने अपने झोले से एक दस्तावेज निकाल कर देते हुए फिर कहा—'देखो ठाकुर दुर्जनसिंहजी ! यह हमारे समय का तीस हजार का दस्तावेज लिख लाया हूँ। भोलाशंकर सज्जनराम ने मुझे पूरा-पूरा अधिकार सुपुर्द कर रखा था। डिग्री जरूर हो जायेगी।

ठाकुर साहब पुराने जमीदार थे, जो अपनी ऐय्यासी ऐसे ही झूठी कारगुजारी से बनाए रखते थे, दूसरा मरे या जिए इससे उन्हें कोई सरोकार न था। × ×

कहना न होगा कि सज्जनराम के विरुद्ध दाबा दायर कर दिया गया। असत व्यवहार में पारंगत लालाराम को जरा भी झूठे ब्यान देने में हिचक न हुई। देखो असत्य की बलिहारी शरीर और शरीर से सम्बन्धी जितनी भी सजीव-अजीव बस्तुएं हैं, उनसे इस चेतनात्मा का कुछ भी लेना-देना नहीं, और वे सब नाशवान भी है, लेकिन यह मूढ़ जीव उनमें ही अहंकार और

ममकार करता हुआ, उनकी ही खातिर गुरुतर पाप करते हुए नहीं हिचकता, जब कि वे सब यहां पड़ी रह जाती। साथ जाते हैं भले बुरे कर्म। किन्तु संकुचित स्वार्थ में अन्धे आज के भौतिकवादी इन्सान को कहां फिकर है धर्म कर्मको। संकीर्ण स्वार्थपरता से अर्थ संचय और प्रतिद्वन्दता की होड़ लगी है। लालाराम इसमें अपने को तीसमारखां समझता ही था।

ठाकुर साहब के पक्ष में डिग्री हो गई।

सज्जनराम के पास तो अब रुपये थे नहीं, जो झूठी देनदारी देकर अपना पिण्ड छुड़ाता। अत:मकान पर कुर्की आगई। नीलाम की तारीख निश्चित हो गई। निर्दोष सज्जनराम मरा जा रहा, किन्तु वह था बड़ा भला मानस साधु चरित एवं धैर्यवान था उसके हृदय में अपने दुराचारी साझीदार लालाराम के प्रति न कोई विद्वेष था, न कुछ बौखलाहट। कर्म-सिद्धान्त पर अटल विश्वासी किन्तु दुर्भाग्य से सताया सज्जनराम अपनी पत्नी से अपने हृदयोद्गार व्यक्त कर रहा था–यह जो कुछ हुआ या हो रहा है। सब हमारे पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है बेचारा लालाराम तो अपने नियोग से निमित्त बन पड़ा है।'

'हां आप ठीक कह रहे हैं। कर्म भोग तो भोगना ही पड़ता है अपनी बुरी नियत का फल लालारामको भी मिलेगा।'

'जो करेगा, सो भरेगा। हमें तो सन्तोषही करना है। हमारी तो यही भावना है कि लालाराम को सुबुद्धि मिले और वह अपने प्रपंचों अनर्थों से बचे।'

'भवन जा रहा,सो जाने दो। भाग्य में होगा तो और मिलेगा नहीं तो न सही।'

'शुभे! तुम ठीक कहती हो। असन्तोष चिन्ता संक्लेश करने से कोई लाभ नहीं इससे शरीर और मन दोनों ही मलिन एवं त्रासित होते हैं। × × ×

कुर्की में केवल तीन दिन शेष कि संयोग से एक अजीब विधि का विधान नजर आया। अचानक एक रात लालाराम के घर

डाका पड़ गया। धन गया सो गया, लालाराम को सिर में गम्भीर चोट आई। अचेत- बिल्कुल अचेत। संकीर्ण स्वार्थी लालाराम का व्यवहार पड़ोसियों से अच्छा न था। अतः कोई भी पास न फटका, किन्तु परदुखकातर सज्जनराम ने जब सुना तो उससे न रहा गया, वह तुरन्त ही घटना-स्थल पर आ उपस्थित हुआ। लालारामको अस्पताल लेगया और अच्छे से अच्छा इलाज अपने पैसे से कराया। लालाराम को जब कुछ चेत हुआ, तो उसे अपने समीप सज्जनराम को देख बड़ा आश्चर्य हुआ और सब हाल चाल ज्ञात कर वह पानी-पानी हो गया।

सत्यनिष्ठ सज्जनराम के सद्व्यवहार से वह बड़ा प्रभावित हुआ। उसका हृदय-परिवर्तन हो गया।

अब उसे अपने असद् व्यवहार पर बड़ा परिताप था। उसके आँखों से अश्रु धारा अविरल बह उठी, मानों वह अपने हृदय का मालिन्य ही धोकर निकाल रहा हो।

चिकित्सकों के मतानुसार लालाराम अभी खतरे से खाली नहीं था। इसलिए मजिस्टेट ने आकर उसका मृत्यु-कालीन अन्तिम ब्यान लिया। उसने डकैती का हाल ब्यान किया; साथ ही कहा—'मैंने ठाकुर दुर्जनसिंह के साथ लोभ एवं स्पर्धा वशात साजिश करके निर्दोष सज्जनराम पर झूठी डिग्री कराई— शायद इसी पाप का प्रायश्चित मुझे यह मिला है।'

मामला कलक्टर की अदालत में पहुंचा। ठाकुर दुर्जनसिंह तलब किए गए। यह सब घटना कम क्रम देखकर उनके भी परिणाम ऋतु हो गये थे। उन्होंने जिलाधीश के समक्ष सत्य को ही स्वीकारोक्ति प्रदान कर दी। डिग्री-कुर्की खारिज हो गई।

सज्जनरामने अपने भूतपूर्व साझीदारको बचानेकी बड़ी कोशिश की, अन्य कुशल डाक्टरोंकी सहायताली, किन्तु सब वेकार हुआ।

मृत्यु शैया पर पड़ा लालाराम हृदय से सज्जनराम के प्रति कृतज्ञ है। उसने सजल नैनों से सज्जनराम से क्षमायाचना की। लालाराम की यह दशा देखकर सज्जनराम का हृदय भर आया,

उसे मार्मिक वेदना हुई वह रोने लगा। हृदयकी कलुषताको धातो हुई अश्रुधारायें क्षमा के आदान-प्रदान को मूक भाषा में पूरा कर रही थीं। अपनी गिरतो हुई हालत में बड़ी कठिनाई से लालाराम कह रहा था—'सज्जनता की मूर्ति, भाई सज्जन—सज्जनराम अब मै तो चला, अब मेरे निस्सहाय परिवार की पतवार तुम्हारे '' उसका गला रूँध गया। नेत्रोंसे गंगा-यमुनाकी धाराओंका वेग और बढ़ गया। और अब जब अश्रुवेग कुछ कम तो श्वाँस वेग से चलने लगी।

सज्जनरामने सहयोगका पूर्ण आश्वासन दिया,उसे बचानेके भी भरसक प्रयत्न किए,किन्तु न बचा सका, आखिर कोई किसोके भाग्य को तो नहो बदल सकता। अन्ततः लालाराम महानिन्द्रा में लीन हो गया। उसकी रोती हुई पत्नी एव बिलखती सन्तान ने देखा कि उनके दिवंगत इष्टजन व्यक्ति के मर्दा चेहरे पर भी अपार-अपार शांन्ति छायी हुई थी।

लालाराम की पत्नी उसके दो बच्चों की सारी व्यवस्था अब सज्जनराम के जिम्मे थी। उसने अपनी दूकान की आय में आधा हिस्सा स्वर्गीय लालाराम के परिवार को दिया। उसकी सचाई और सद्भावना सुगन्धि के समान मूक एवं अदृश्य रूप में चारों ओर फैल गई।

सज्जनराम की दूकान भी चल निकली। आधा लाभांश स्व० लालाराम के परिवार को बराबर मिलता रहा। अब लालाराम का पुत्र भी बड़ा हुआ, सज्जनराम की सचाई से बिना व्यापार किए हुए ही उसके पास पाचास हजार नगद रुपया था, जिससे उसने अपना निजी व्यापार प्रारभ कर दिया।

और सज्जनराम तथा उसका परिवार अपने सुकृतों एवं सचाईके परिणाम स्वरूप फल-फूल ही रहा था।

लालाराम की पत्नी कृतज्ञतासे प्लावित सज्जनराम के यशगानका बखान तो करतीही रहती थी। दुर्जनोंको छोड़ भला कौन सज्जन सचाई की बढ़ाई न करेगा?

★

शुचिता किस में है ?

★

'क्या कहा ?'

'यही कि कोरे क्रिया-काण्ड, स्नान-ध्यान में ही शौच] धर्म का सार नहीं है ।'

'तो क्या स्नान- ध्यान, छुआ-छूत करने वाले धार्मिक नहीं हैं ? वे तो अपने को बड़े धार्मिक बनते हैं ।'

'हर्गिज नहीं । शरीर तो अशुचि का घर है । रात-दिन इससे मल ही स्रावित होता है– मानो यह पसेवादि मल-मूत्रादि की ही घ्रणित पोटली है जिसका स्वभाव ही अशुचि हो भला उसे सागर का जल भी क्या पवित्र कर सकता है? धवल निर्मल जल इसका स्पर्श पाकर मलिन हो जाता है सुरभित तैल विलेपन साफ सुथरे वस्त्राभूषण आदि इसके संसर्ग से मलिन हो जाते हैं । फिर क्या ऊपरी सफाई से बोतल के भीतर का मैल निकल जाता है ? कदापि नहीं । धर्मराज युधुष्ठिर को नारायण कृष्ण जी ने इसी बात का परिज्ञान कराया था ।'

'क्या बताया था ?'

'महाभारत के युद्धोपरान्त धर्मराज युधुष्ठिर नारायण कृष्ण जी के पास गए और बोले— 'भगवन, महाभारत युद्ध में लगे पाप के प्रक्षालनार्थ मैं तीर्थ-यात्रा को जा रहा हूँ ।' नारायण मुस्कराये–बोले, 'मेरी प्यारी तूँबी को भी लिए जाना, इसे भी तीर्थोदकसे स्नान कराना, यहभी पवित्र हो जायेगी । स्वकारोक्ति करके धर्मराज ने उसे ले लिया ।'

तीर्थयात्रोपरान्त धर्मराज नारायण कृष्ण की सेवा में उप-

स्थित हुए। नारायण जा ने स्वागत करते हुए धर्मराज से पूछा 'कि 'मरा तूँवो को भी तीर्थों में स्नान कराया कि नहीं ?'

'क्यों नहीं महाराज, सबसे पहले तो इसे स्नान कराया, उपरान्त मैन किया।'

'तब तो यह अ ही पवित्र हो गई, अतः इसका चूर्ण बनाकर सभी सभासदों को प्रसाद दिया जाय। और यहो किया गया। किन्तु प्रसाद चखने वाले सबके सब सभासद एवं स्वयं धर्मराज थूकते फिरे, सब के मुख कड़ुवे हो गए।

श्रीकृष्णजीने प्रश्न किया--'धर्मराज यह क्या तूँवी तो मधुर हुई नही।'

'कैसे होती हमने तो तूँवी के ऊपरी भाग को नहलाया। तिक्तपन इसके भीतर था।'

'तो क्या बाहरी स्नानसे भीतरी मनका कालुष्यधुल जाता है?'

'भगवन, मेरी समझ में आ गया। भावों की विशुद्धि से ही पाप प्रक्षालन होता है।

जितने भी तुम पोंगा पंथियों को देखते हो उनमें, बहुतों में वह बाह्य दिखावा मात्र होता हैं उनमें से आज कल प्रायः अधिकांश व्यक्तियों के हृदय लोभादि कषाय होने से काले कारनामों से उल्टे तवे से भी अधिक स्याह होते हैं।'

'मेरी समझ में तो किसी के मन के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आप जिसे निर्मल समझ रहे हैं, वह व्यक्ति ही महा पतित निकल सकता है।'

'यही तो मैं भी कहना चाहता हूँ। परन्तु इसके साथ मेरा यह भी विश्वास है कि किसी व्यक्ति के बाह्य जीवन एवं उसकी गतिविधि या सूक्ष्म पैनी दृष्टि से देखकर उसके हृदय मन का अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे एक सेठ जी-अपने कड़ोरीमल जी को ही ले लीजिए। सुबह ही उठकर नहा-धोकर माला जपने लगते है और फिर आटा लेकर चीटियों को खिलाने निकल जाते हैं। दूकान पर जाकर कैसी गृद्ध दृष्टि लगाए रहते

हैं और भोले-भाले ग्राहकों को तो ऐसे फंसाते हैं जैसे मछुआ मछली को ! ये वगुला भगत कम सौदा देने में मशहूर हैं ही इसी से सभी उनसे 'काटूदादा' कहते हैं।'

'तो शायद आपके कहने का यह आशय कि तृष्णा और लोभ से मन अधिक मैला रहता है, फिर शुचिता किस बात की ?'

'जी हां 'लोभ पाप का बाप बखाना' उक्ति तो प्रसिद्ध हैं ही। क्या आपने इसकी कथा भी सुनी है ?'

'नहीं, वंसे लोभ के वशीभूत होकर ही प्राणी पापोन्मुखी होते हैं, इतना तो मैं आपके सत्संग से जान ही गया हूं। फिर भी प्रसंगानुकूल यदि आप कथा भी कह दे , तो यह तथ्य और भी रोचकता से उजागर हो जायगा तथा मेरी जिज्ञासा भी पूर्णत: शमन होगी।'

'तो सुनो, मित्र कोई एक नव युवक बनारस से धर्म शास्त्र पढ़कर वापिस अपने घर आया, उसकी नव विवाहिता पत्नी ने प्रश्न करते हुए कहा—'आपतो बनारस पढ़कर आये हैं, जरा हमें यह बताइए कि 'पाप का बाप कौन है ?'

नवयुवकने बहुत दिमाग दौड़ाया किन्तु उसकी समझमें कुछ न आया, अत:वह बनारस इसी समाधानहेतु सिधाया। किन्तु रास्तेमें रात हुई और वह एक गाँव के एक सिरे पर जो मकान था उसके चबूतरे पर सो गया। प्रातः जागा तो देखा कि एक सुन्दर रमणी खड़ी है उससे पूछ रही है—'पथिक तुम कौन हो और कहाँ जा रहे हो ?'

नवयुवक ने अपना सारा वृतान्त कह सुनाया, तो रमणी वोली, इस जरा सी बात के लिए तुम बनानस क्यों जा रहे हो, हम तुम्हें यहां से बता दे'गे, लेकिन तुम्हें आज हमारे यहां रुकना होगा।'

'अच्छा', नवयुवक ने कहा, 'आप कौन हैं?' मैं ‥ मैं तो वेश्या हूँ।' रमणी का सहज उत्तर था जिसे सुनते ही नवयुवक विचारने एवं कहने लगा राम-राम गजब हो गया। तुम्हारे द्वारे

रुकने में महाँ पाप लग ही गया।

'तो क्या हुआ महाराज अभी आपको सौ सोने की अर्शाफियाँ देती हूँ, आप प्रायश्चित कर लेना। यह कहकर वह अन्दर गई और लाकर अर्शाफियां देदी, लोभ ने युवक के मुख पर ताला डाल दिया था। 'तो महाराज चलिए, आइए और मेरे पतित गृह को पावन कीजिए।' नव युवक ने घर के भीतर जाने में आनाकानी की। किन्तु इस हेतु भी उसे सौ अर्शाफियां मिलीं और वह वेधड़क घर क भीतर चला गया।

'तो आज का आपका आहार तो हमारे यहां ही होगा। आप जैसे धर्मात्मा का संयोग भला मुझे कब होने का, इस हेतु भी मैं आपको सौ अशिफयों देती हूँ।' युवक इस शर्त पर राजी हो गया कि रमणी खाद्य सामग्री दे दे, वह भोजन स्वयं बना लेगा। नव युवक अब वेश्यासे मधुरालाप करता हुआ भोजन बना रहा था कि पुनः वारिनारि ने प्रस्ताव किया, महाराज!' आपके कष्ट को देखकर मेरी ऐसी भावना हुई कि यदि आपके भोजन बनाने का मुझ पतिता को अवसर मिले जो मेरा उद्धार हो,लीजिए ये और सौ अर्शाफियां आप अब फिर प्रायश्चित लेना, सत्ता पर अट्टा पड़ गया। युवक ने मौन स्वीकृति दे ही दी।

सुस्वाद नाना व्यंजनात्मक भोजन तैयारहो गया, जिसे देखकर ही उसका जी ललचाने लगा। जैसे ही वह भोजन करने बैठा कि आतिथेय बोला 'अतिथि भगवान अब पतिताके अपावन हाथों को पावन कर दीजिए, इस वार ये एक सहस्त्र स्वर्ण मुद्रायें आपके प्रायश्चित के लिए प्रस्तुत हैं'–पहला ग्रास तो मेरे हाथ से ही गृहण कीजिए, महती कृपा होगी।' इस वार तो नहले का वहले पर प्रहर था, भला कैसे चूकता। बनारसी छात्र के भाग्य खुले थे आदर सत्कार, और मुफ्ती माल—दोनों हाथ लड्डू।

किन्तु जैसेही उसने ग्रासग्रहणहेतु मुख खोला कि वेश्याने उसके मुंह में थूक कर तमाचा मारा। सारे दिये हुए धन को छीन

लिया और बोली बताओ तुम्हें तुम्हारे प्रश्नका उत्तर मिल गया— 'अरे मूर्खराज यह लोभ ही पाप का बाप है।' लोभ के वशीभूत होकर तुम हर अयोग्य क्रिया कलाप करने को तैयार हो गये।'

यद्यपि वेश्या को शिक्षा से युवक का सत्य समाधान हो रहा था, किन्तु मारे शर्म के वह अधोन्मुखी हो विहार कर रहा था।'

'कहानी तो आपने बड़ी ही रोचक शिक्षाप्रद सुनाई यानी जब तक हृदय में लोभ है, तब तक बाहरी नहाना-धोना, चन्दन लगाना आदि सब व्यर्थ हैं।'

'हाँ कोरी बाह्य शुचिता मेरी समझ में दिखावा मात्र है। वैसे एक गृहस्थ जो कि व्यापार एवं घरेलू क्रिया कलाप में पाप कमाता है, वह जिन-पूजा आदि पुण्य क्रियाओं को करके, उसे गँवाता है। हाँ, पूजन, समायिक आदि शुभ क्रियाओं के करने में स्नानादि बाह्य शुद्धि की जाती है। लेकिन इसके साथ ही शौच धर्मानुसार तो हमें मनसा-वाचा-कर्मणा शुद्ध होना चाहिए।'

'तो मन, वचन, काय इन तीनों में शुद्धता रखना आवश्यक है।'

'हाँ, शौच धर्म तो यही कहता हैं। माया, मिथ्या, निदान इन तीनों शल्यों का त्याग भी शौच धर्म है।'

'अभिप्राय यह कि यह परिग्रह की माया अथवा ९९ के फेर असत में विश्वास और मृषा भाषण तथा भौतिक वैभवों की प्राप्ति के लिए म [illegible] करके देव पूजन आदि के अभाव को आप शौच धर्म मानते हैं।'

'मेरा मतलब तो यही है यदि आपने माया, मिथ्या, निदानका परिहार नहीं किया और बाह्य शुचिता मात्र में लगे रहे, तो इससे काम नहीं चल सकता और न यह सच्चे अर्थों में शौच धर्म ही है। इसके साथ ही साथ मैं यह भी कहूँगा कि आत्मा को निर्मल करने में शौच धर्म है।'

'जैसा कि आपने उस दिन बताया था कि क्रोध, मान, माया,

लोभ इन चार कषायों से मुक्ति पाने में आत्मा का निर्मल रूप निखरता है, तो क्या यही शौच धर्म का भी सार है ?'

'हां साहब, बिल्कुल यही, लगता है आप तो इन शुष्क बातों में भी बड़ा रस लेते हैं और मनन भी करते हैं ।'

'यह आत्म शुचिताका एक मार्ग है, शौच धर्मका एक साधन।'

'हां, क्यों नहीं ? शास्त्र पढ़ना यानी स्वाध्याय करना आदि शौच धर्म के साधन हां हैं । पर, हैं ये ग्रहस्थ व्यक्ति के लिए ही ।

'हाँ, ग्रहस्थाश्रम से आगे बढ़ गये हैं उनका तो निर्वृत्ति मार्ग है, उन्हें तो आभ्यान्तर पारिष्कार की आवश्यकता रह जाती।'

'आज कल कुछ ऐसा देखा जा रहा है कि मैंने जो ऊपर शौच धर्म के साधन बताए हैं; लोग उन्हें ही साध्य समझ जाते हैं एवं शौच धर्म के वास्तविक मन्ततव्य को भूल जाते।'

'आपका यह कथन तो मुझे भी बहुत कुछ सत्य लगता है। हमें विवेक से काम लेने की जरूरत है ।'

'विना विवेक के तो किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती है। लेकिन बड़े खेद की बात है कि आज का मानव भौतिक चकाचौंध में इतना विमुग्ध हो रहा है कि उसका विवेक ही जाता रहा है । वह इच्छाओं की बढ़ोतरी में ही आनन्द मानने लगा है और बाहरी लोभ एवं स्वच्छता करके मन को उत्तरोत्तर मलिन ही बना रहा है।'

'कुछ न पूछो स्वार्थ और भोगवाद की स्वच्छन्दता ने तो हिए के कपाट ही बन्द कर दिये। लेकिन हम कोई परके ठेकेदार थोड़ेई है। हमें आत्मनिरीक्षण अपना सुधार-प्रक्षालन करना है।'

'ठीक कहते हो बन्धु आप सुधरो तो जग सुधरता हैं।'

'हमें तो शौचधर्म जल से आत्म-शोधन इष्ट है इसीसे एतद्विषयक यह आप से चर्चा को, आपका अमूल्य समय लिया, क्षमा कीजिये, शौचकुमार जी !'

'वाह विवेक जी ! यह समय का सदुपयोग हुआ इसमें क्षमा की क्या बात ? सचमुच मुझे तो सदैव तत्वज्ञान की जिज्ञाषा रहती है।

उत्तम संयम धर्म पर आधारित कहानी

★

ईंट पत्थर का त्याग

★

सेठानी जी सेठ जी के अधर्माचरण से बड़ी चिन्तित थीं। सेठ जी का आहार ही नहीं विहार सभी कुछ भ्रष्ट था। पैसा होने से यद्यपि समाज उन पर उँगली न उठाता था, तथापि पीठ पीछे बुराइयों की कोई सीमा न रहती थी। सेठानी पति को सन्मार्गी बनाने का भरसक प्रयत्न करतीं थीं, किन्तु कोई भी सफलता प्राप्त न हुई।

यद्यपि सेठ जी समाज के सरपंच थे, किन्तु मन्दिर जी जब कभी ही जाते थे। किन्तु एक दिन वे ऐसे मन्दिर जी पहुंचे कि ब्रह्मचारी जी का प्रवचन चल रहा था। वे संयम पर बोलते हुए कह रहे थे, 'देखो भाई! बिना ब्रेक के जैसे गाढ़ी किसी खाई खंदक में ले जा कर पटक सकती है, वैसे ही जीवन विना संयम के दुर्गति के खाई-खन्दों में जा गिरता है। संयम का काम जीवन को शाश्वत सुख प्रदान करने के मार्ग पर बढ़ाने के लिए संयत रखना है।

संयम दो प्रकार का होता है इन्द्रिय संयम व प्राणि संयम।

पंचेन्द्रियों के विषयों पर लगाम लगाना इन्द्रिय संयम है। एक-एक इन्द्रिय के विषय महान दुख दायी हैं। देखो मायावी हथिनी देख कर हाथी उसका स्पर्श-प्रसंग पाने को लालायित होकर आगे बढ़ता और गड्ढे में पड़ कर आजीवन बन्दी बनाया जाता है। जिह्वा लोलुपता से मीन मछुए के हाथ पड़ कर अपने प्राण गंवा बैठती है। भौंरा सुगन्धि की लोलुपता से कमल के फूल में बंद होकर प्राणों से हाथ धो बैठता है। नेत्र के विषय के वशी-

भूत होकर पतंग दीपक पर बलि हो जाता है। स्रोत्र इन्द्रिय के वशीभूत होकर हरिण पकड़ा जाता है। सर्प मयूर द्वारा भक्षण किया जाता है। जब एक-एक इन्द्रिय के विषय इतने घातक हैं, तो फिर पचेन्द्रियों के विषय सेवन के परिणाम कितने घातक होंगे, यह आप सभी सोच सकते है।

इन्द्रियों की सार्थकता उनके सद्धर्म-सदुपयोग के लगाने में ही है। एक संस्कृत कवि ने एक श्लोक में अन्योक्ति करते हुए बड़े ही शालीन भाव व्यक्त किए हैं, —

हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ।
नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौ न तीर्थं गतौ॥
अन्यायार्जितवित्तपूर्णमुदरं गर्वेण तुंगं शिरः।
रे जम्बुक ! मुञ्च मुञ्च सहसा नीचं सुनिन्द्यं वपुः॥

हे श्याल ! तू इसका हाथ मत खा, यह हाथ पापी हैं, इस हाथ से उसने कभी दान नही किया, इसलिए यह खाने लायक नहीं है। इसके कान को भी मत छू, इसने कभी धर्म का एक शब्द भी नही सुना। जिनवाणी के वचन कभी इस कान में नही आये, अतः यह भी खाने योग्य नहीं है। इसकी आंख दिखने में तो सुन्दर दिखती हैं, परन्तु इसने कभी साधू संत महापुरुषों के दर्शन नहीं किए इसलिए यह भी तेरे योग्य नहीं है। इसका सिर भी बिल्कुल अपवित्र है, इसने अभिमान में आकर अपने आप को ऊँचा ही उठा रखा। महापुरुषों के सामने भी कभी नहीं झुका। इसलिए यह सारा का सारा शरीर नीच है, निन्दनीय है।

मानव शरीर की इन्द्रियादि अवयवों का यदि सदुपयोग न हुआ, तो निरर्थक तो गए ही, इसमें सन्देह ही क्या ?

संयम से ही मुक्ति-मार्ग खुलता है। इन्द्रिय-विजय ही जीवन की सार्थकता है। सभी राज्यों को जय करने पर भी राजा सर्वजीत से उनकी मां सर्वजीत नहीं कहती थी। पुत्र ने मां से इसका कारण पूँछा तो मां ने यही बताया कि बेटा ! तूने आत्मिक

शस्त्रुओं को जय नहीं किया। इन्द्रिय विजय के विना तू सर्व-जीत कैसा ? अत: सच्ची विजय इन्द्रिय जय-मय है।

प्राणियों की रक्षा करना भी बड़ा धर्म है। देखो यमपाल चाण्डाल चतुर्दशी के दिन ही जीव-हनन न करने के परिणाम स्वरूप विश्वविख्यात हो गया और मृगसेन धीवर ने एक मुनि-राज के सदुपदेश से जाल में आए प्रथम जीव की हिंसा न करने का नियम लिया। एक मछली को अनेक वार अभय दान दिया, तो उसके फल स्वरूप दूसरे जन्ममें श्रेष्ठि पुत्र हुआ और अनेक वार मौत के मुँह से बचा। सभी भाई-बहिनों को संयम का महत्व समझ कर व्रत नियम लेने व पालने चाहिए।

ब्रह्मचारी जी के उपदेशोपरान्त सबने कोई न कोई संयम ग्रहण किया। किसी ने रात्रि भोजन का त्याग किया, तो किसी ने चर्म-प्रयोग का। किसी ने मांस मदिरा मधु को छोड़ा तो किसी ने पंच उदम्वर फलों को। किसी ने पूजन की आखड़ी ली, तो किसी ने देव-दर्शन की। यों ही अनेक प्रकार के व्रत नियम लिए गये।

जब सेठजी की वारी आई; तो उन्होंने कोई भी संयम ग्रहण करने से साफ इन्कार कर दिया। ब्रह्मचारी जी ने बहुत आग्रह किया कि आप भी कोई आखड़ी लीजिए, कुछ न कुछ आप भी छोड़िए।

सेठजी कुछ उत्तोजित हुए। वोले—'आप लोगों ने बस छोड़ने-छाड़ने को ही धर्म मान रखा है। मुझसे संयम नहीं पलता। मै क्या छोडूँ ? क्या कंकर-पत्थर छोडूँ ?'

'अच्छा आप कंकर-पत्थर ही छोड़ दीजिए। ब्रह्मचारीजी ने गम्भीर मुद्रा में कहा। और सेठ जी को कंकर-पत्थर छोड़ने की ही आखड़ी दिला दो।

अब स्वयं सेठजी भी गम्भीर मुद्रा में थे। उन्हें आखिर आखड़ी जो निभानी भी तो थी। उन्होंने विचार किया। इस आखड़ीसे तो मैं विना शाधा वीना भोजन ही नही करसकता हूँ।

सेठानी जी का उन्होंने आश्रय लिया, तभी शुद्ध भोजन मिला। और 'जैसा खाओ अन्न, वैसा होवे मन' वाली कहावत के अनुसार सेठ जी का अन्तरंग शुद्ध होगया।

सेठजी के इस परिवर्तन से सेठानी जी को बहुत ही सन्तोष हुआ। कहाँ सेठजी सेठानी की वात तक नहीं सुनते थे और अब तो बिना सेठानी के परामर्श के कोई भी कार्य न करते। सेठानी तो धर्मात्मा थी ही, उसने धीरे-धीरे सेठ जी को सप्त व्यसन का त्याग और अणुव्रत को ग्रहण करा दिया। सेठजी के जीवन एवं हृदय में अब अपूर्व धर्मोत्साह एवं शान्ति थी।

उनका कठोर हृदय अब करुणा से आप्लावित था। दीन-दुखी की सहायता के अवसरों को वे चूकते न थे। क्रोध-मान-माया-लोभ कषाय भी कृष पड़ रहे थे।

आहार की शुद्धता से उनकी बुद्धि सात्विक हो रही थी। उनके हृदय में धैर्य था। अतः कोपकाषाय का उन पर असर नहीं होता था। अब तक सेठ जी लोभ वृत्ति से धन कमाते थे एवं मान बढ़ाई के अर्थ उसे खर्च करते थे, यह दुर्वृत्ति अब बदल गई। अव तो वे ऋजु भावों से ही दान करते हैं। कपट से जीविकोपार्जन छोड़ दिया है। साफ सुथरी सत्य बात ही पसन्द है। अतिशय लोभ के अभाव से हार्दिक स्वच्छता हो गई है। अब वे सेठानी पर ही सन्तोष रखते, इस भांति एक देश ब्रह्मचर्य पालते हैं।

अब परिवर्तन महान परिवर्तन, कायाकल्प ही हो गया। उनके धार्मिक जीवन की कीर्ति दिगिदगन्त में व्याप्त हो गई।



★

तप का लक्ष्य : ऋद्धि-सिद्धि नहीं, मोक्ष !

★

जनश्रुति कि राजा भर्तृहरि को माली ने कोई अमृतोपम् फल लाकर भेंट किया। राजा ने बनमालीको पारितोषक देकर विदा कर दिया। महाराज साहब अपनी रानी पर बड़ा स्नेह करते थे, उन्होंने वह अमृतोपम् फल स्वयं न खाकर अपनी प्राणप्रिय-महारानी को ही अर्पित कर दिया। ठीक ही है आसक्त प्रेमी-जन प्रिय वस्तु अपने प्रेम-भाजन को समर्पित करने में सुख ही मानते हैं। सम्राज्ञी यद्यपि महाराज को विवाही गईं थीं, किन्तु उसका स्नेह कोटपाल पर था। देखो काम का अनिवार्य अन्धापन, जो रानीने राजपुरुषको तजकर दास को पकड़ा। उसने विचार किया कि यह सुन्दर फल तो कोटपाल को ही भेंट करना योग्य है। प्यारी चीज तो अपने सबसे प्यारे जनको ही दी जानी चाहिए। वही उसने किया भी। यद्यपि रानी हृदय से कोटपाल को चाहती थी किन्तु कोटपाल वसन्त मालती वेश्या पर आसक्त था, सो रानी से फल प्राप्त कर उसने अपनी प्रिय प्रेमिका वारिविलासिनी बसन्तमालिका को अर्पित कर दिया। बसन्त-मालिका स्वयं सम्राट पर अनुरक्त थी, तो उसने ऐसे सुधाधाम फल को अपने हृदयेश्वर राजा साहब को समर्पित कर दिया। राजा साहब फल को हाथ में लेते ही पहचान गए कि यह दुर्नि-वार काम की ही महिमा है जिसने कहीं भी निष्ठा को नहीं पन-पने दिया और मुझको प्राप्त फल फिरभी मेरेपास ही आ गया। दरबार में रानी-कोटपाल को बुलाया गया। भरे दरबारमें राजा साहब ने सब बात स्पष्ट करदी। सबने अपना अपराध स्वीकार

किया। राजा तो कवि थे ही इस घटना से बड़े विरक्त हुए और काम की निस्सारता पर उनके श्री मुख से एक श्लोक निस्सृत हुआ —

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ताः
साप्यन्यमिच्छति जनं सजनोऽन्यसक्ताः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च।।

अर्थात जिस स्त्री को मैं अपनी विचार करता हूँ, वह मुझ से विरक्त है, वह स्त्री जिसका विचार करती है (कोतवाल), वह स्त्री से विरक्त है और वह कोतवाल जिस वेश्या से प्रेम करता है वह वेश्या कोतवाल से विरक्त है। ऐसे कामियों का यही स्वरूप है। यह मनुष्य काम के वश में हो कर अपना जीवन खो देता है। धिक्कार है उस स्त्री को, उस पुरुष को इस काम को और इस वेश्या को और मुझे भी।

नृप भर्तृहरि विरक्त हो तप तपने लगे। किन्तु वे किन्हीं मंत्र-वादियों के चक्कर में पड़ गए और मंत्र के प्रभाव से उन्होंने कनकरस की प्राप्तिकी। भर्तृहरिजी के अग्रज शुभचन्द्रजी दिगम्बर मुनि चार्या का अवलम्बन लिए हुए थे। भर्तृहरि कनक रस की सम्प्राप्ति से प्रमुदित थे। उन्होंने विचारा क्यों न इस महिमा को दर्शाकर बड़े भाई को समझाया जाय कि आप नाहक इतना कष्ट नग्न चर्या घोर तपस्या में उठाते है। देखो मेरे अल्प तप से ही कनक-रस की प्राप्ति हो गई।

कहना न होगा वे उस शिला-खण्ड पर पहुंचे जहां दिगम्बर मुनि शुभचन्द्र जी साधना-लीन थे। बोले—'भाई साहब, आप व्यर्थ ही इस आतापन योग में शरीर को सुखा रहे हो। देखो मैं ने तो थोड़ीसी तपस्यामें ही इतनी बड़ी सी उपलब्धि करली है।'

ध्यानभंग हाने पर योगिप्रवर शुभचन्द्र जी बोले —'कहो क्या ले आए, भर्तृहरि!'

'भाई साहब, मैंने थोड़े ही तप करने से यह कनकरस प्राप्त किया, जिस धातु पर छिड़को वही सोने की हो जाती है।

'तो इस में कौन सी बड़ी बात ? मैं अपनी पदरज जिस वस्तु पर डाल दूं वही सोने की हो जावे। देखो न, कहते हुए उन्होंने अपनी चरण रज उनके कनक रस के कलश पर डालदी। वह सोने का होगया। यह उनके तप का प्रभाव था। भर्तृहरि चकित, विस्मित, मौन। शुभचन्द्र जी बोले —'तो क्या तुम्हें सोने की ही जरूरत है ? यदि इसकी ही जरूरत थी, तो तापसी वेश क्यों बनाया, तुम तो राजा थे ही, चाहे जितना सोना राजकोष से प्राप्त कर सकते थे ?'

आचार्य शुभचन्द्र के उत्तर ने उन्हें निरुत्तर कर दिया। वे कुछ सोचने को मजबूर हुए।

'तो फिर तप का सम्यक् लक्ष्य क्या होना चाहिए।'

तपसूर आचार्य शुभचन्द्र ने स्पष्ट किया —'हे भाई, इस का उत्तर तो बरसों पहले प्रसिद्ध नैय्यायिक आचार्य समन्तभद्र स्वामीजी बड़ा ही स्पष्ट देगए हैं —सुनिये उन्होंने कहा—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया,
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान् पुनर्जन्म-जराजिहासया,
त्रयीं प्रवृत्ति समधीरनारुणत् ॥

हे भगवान ! कितने ही लोग संतान प्राप्त करने के लिए, कितने ही धन प्राप्त करने के लिए तथा कितने ही मरणोत्तर काल में प्राप्त होने वाले स्वर्गादिकी तृष्णा से तपश्चरण करते हैं, परन्तु आप जन्म और जरा की बाधा का परित्याग करने की इच्छा से इष्टानिष्ट पदार्थों में माध्यस्थ हो मन वचन काय की प्रवृत्ति को रोकते हो। अन्यत्र तप का प्रयोजन संसार है, तो जिनागम में तप का प्रयोजन मोक्ष है। परमार्थ से तप मोक्ष का ही साधन है। इसमें यदि कोई न्यूनता रह जाती है तो सांसा-

रिक सुख का भी कारण हो जाता है । जैसे खेती का उद्देश्य अनाज प्राप्त करना है। यदि पाला आदि पड़ने से धान्य प्राप्त करने में कुछ कमी हो जाय तो प्यार(पलाल)कहाँ चला गया, वह तो मिलेगा ही, इसी प्रकार तपश्चरण से मोक्ष मिलता है, यदि कदाचित् उसकी प्राप्ति न हो सकी, तो स्वर्ग का वैभव कौन छीन लेगा ? वह तो प्राप्त होगा ही ।

'तो क्या ऋद्धिसिद्धियों की कोई आवश्यकता ही नहीं ?'

'भाई परमार्थ में क्या आवश्यकता है ? आत्मा तो ज्ञान पुञ्ज चैतन्य मात्र है। यह शरीर ही जब आत्मा का नहो, तो फिर और इसका हो ही क्या सकता है ?

'किन्तु एकदम मोह को जीतना तो बहुत कठिन है। वैरागी तक व्यामोह में पड़ जाते हैं ।'

'लेकिन शनैः शनैः साधना तो निर्मोह की कर सकते हो ।'

'हाँ क्रमशः तो मोहजित हुआ जास कता है, जैसे कि ऋद्धि-सिद्धियों के स्वामी होने पर आप मोहजयी हो रहे हैं ।'

'मैं तो कुछ नहीं, अनेक महात्मा मोहजित हुए हैं, स्वयं भगवान जिनेन्द्र ही मोहजित हैं।'

'लेकिन यह अवस्था बड़ी कठिन है ।'

'कठिन क्या है ? जब योगी के अतीन्द्रिय आनन्द विलसित होता है; तो उसे शारीरिक कष्ट की फिक्र ही नहीं रहती। अन्तः दृष्टि से आनन्द और कर्मों की निर्जरा होती है । पूज्यपाद श्री-देवनन्दि आचार्य ने कहा है —

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतं ।
न चासौ खिद्यते योगी, बहिर्दुःखेष्व चेतनः ।'

जिसके अन्तर्दृष्टि है वह बाह्य दुःखों से अचेतनवत है, अर्थात ज्ञात ही नहीं होते। उसे खेद भी नहीं होता है, उसके आनन्द ही झरता है, वही कर्म-निर्जरा करता है ।'

'सुना है पूज्यपाद स्वामी बड़े भारी तपस्वी थे ।'

'हाँ 'समाधितन्त्र', 'इष्टोपदेश' एवं तत्वार्थ सूत्र पर 'सर्वार्थसिद्धि टीका' के रचयिता आचार्य देवनन्दिजी महान तपस्वी थे। वन में जब वे ध्यान-रत रहते, तो ग्वाल-बालों देखते कि मुकुटबद्ध देव आकर उनकी प्रदक्षिणा करके स्वर्गीय पुष्पों से पूजा-अर्चा कर अपने को धन्य समझते। देवताओं द्वारा पाद-पूजन होने से वे आचार्यदेवनन्दि लोक में पूज्यपाद नाम से ही विख्यात हुए।'

'यथार्थ ही निर्ग्रन्थ बीतराग तप ही मोक्ष का वास्तविक साधन है।'

'ठीक कहते हो भाई भतृहरि ! अब आप को वास्तविकता का परिज्ञान हो रहा है। निर्ग्रन्थ जैन साधु के लिए कञ्चन और काँच, अरि-मित्र, सुख-दुख समान हैं। वे सम्यक्त्व पूर्वक तपाराधना से कर्मों का संवर-निर्जरा करके आत्मा को विविक्त यानी खालिस शुद्ध बनाते हैं। सभी तीर्थङ्करों और अर्हन्तों ने यही किया। वे सभी अटल तपस्वी थे।'

'अन्तिम तीर्थंकर भ० महावीर पर तो देवियों ने उनको चलायमान करने की बड़ी चेष्ठा की थी। किन्तु भगवान तो कामजयी अटल तपस्वी थे।'

'भवरुद्र ने उज्जैन के अतिमुक्तक स्मशान में तो भगवान की भारी परीक्षा ली थी। भगवान को उपल समझ कर हरिण आदि खाज खुजलाते। लाड़ देश में उन पर शिकारी कुत्ते छोड़े गए पर वे अचल। उनकी अहिंसक तपस्या के सामने हिंसक जन्तु भी नम्र हो गए थे।'

'जी तप से वैसे ऋद्धियाँ-सिद्धियां उत्पन्न होतीं ही हैं।'

'वे स्वयमेव होती हैं, योगी का उनकी ओर लक्ष्य नहीं होता। वात्सल्य धर्मांग के आदर्श उदाहरण मुनि विष्णुकुमारजी को विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गई थी, परन्तु उनको उसकी खबर भी नहीं थी। इसी विक्रिया ऋद्धि से हस्तनापुर में उन्होंने श्री अकम्पनाचार्य के लगभग सात सौ मुनियों के संघ का

उपसर्ग निवारण कर लोक में ख्याति-संस्तुति पाई थी।'

'हां रक्षाबन्धन की कथा तो प्रसिद्ध ही है।'

'सौन्दर्य सागर सनतकुमार चक्रवर्ति मुनि अवस्था में महान तपस्वी थे। उन्हें कुष्ट की महा व्याधि हुई। वे तप प्रभाव से उसे निमिष मात्र में ठीक कर सकते थे। एक देव वैद्य से कुष्ट रोग की औषधि यह कहकर लेने से मना करदी कि 'जन्म-मरण महारोगकी कोई भेषज हो तो दो; - इसकी मुझे दरकार नहीं।' यों उनका लक्ष्य तन पर था ही नहीं। वे मनको काबू में कर आत्मामें स्थिर हो रहे थे।'

'धन्य थे वे। वास्तव में, मैं भी यह तथ्य अनुभव करता हूँ, कि तप का प्रयोजन परम निःश्रेयशा मुक्ति-लाभ ही है।'

'न जाने कितने तपस्वी आराधना करते हुए अन्तकृत केवली हुए। जो किंचित विकल्प से संचालित हुए, वे सर्वार्थ सिद्धि को प्राप्त हुए, उनका मोक्ष निकट ही है। पांडव अग्नि में दग्ध हुए किन्तु तप से चलायमान न हुए। गजकुमार के कीले ठोंकी गई किन्तु अविचलित। कहां तक कहें जैन इतिवृत्त तो तपाराधना का ही पुण्य एवं स्वर्णिम इतिहास है।'

'हां तभी तो यह मोक्ष-मार्ग है। लेकिन बहुत से अज्ञानी जीव इस मोक्ष-मार्ग को पाकर कायक्लेश से काया तो सुखाते हैं किन्तु आत्म-शुद्धि नहीं करते।'

'हाँ ठीक कहते हो भाई !

अनशन, अवमौदर्य, व्रतपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शैयासन, कायक्लेश रूप बाह्यतपआत्म स्थिरता एवं शुद्धि में सहकारी है! प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग एवं ध्यान अन्तरंग तप है। इच्छा निरोध तप हैं। तपस्या का आशय आत्म को विनिर्मल करना है और यदि आत्मा की शुद्धि की ओर न बढ़े तो सब व्यर्थ। दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर सम्यक तपाराधना ही योग्य है।

'कहते हैं इस कलिकाल में तो मुक्ति द्वार बन्द हो गया,

फिर तप की क्या आवश्यकता ?'

'हां इस भव से मोक्ष भले ही न हो किन्तु भवान्तर से मोक्ष का निषेध है नहीं। सम्यक तप से कर्मों का संवर एवं निर्जरा दोनों ही होते हैं—यही जीव को सुगति में ले जाते हैं।'

'भगवन, आत्म-हित में प्रमाद नहीं करना चाहिए। यह दुर्लभ मनुष्य जन्म के क्षण प्रतिक्षण बड़े ही मूल्यवान हैं। आत्म-शुद्धि हेतु इन्हें सम्यक तपाराधना में लगाना चाहिए।'

'इस में क्या सन्देह ?'

'आज तो महात्मन आपके सत्संग से काफी लाभ हुआ। अब मन की बहुत सी गुत्थियां खुल गईं। अब मुझे कनकरस की चाह नहीं।' उन्होंने उसके कलश को फोड़ फेका।

'अतीन्द्रिय आत्म रस से बढ़कर कोई रस नहीं। तपाराधना द्वारा सच्चिदानन्द का अनुभव करो और उत्तरोत्तर मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होते चले जाओ।'

'ऐसा ही करूंगा।'

'हे राही, तब तुम्हें मोक्ष अवश्य मिलेगा।'

'अब तो मोक्ष की चाह उँमग गई है। और आत्म-विश्वास भी जगा है।'

'समझ लो अनादि कालीन अज्ञान भगा है। वीतराग के मार्ग पर एक दिन पूर्ण वीतरागता ही हो जायेगी और सर्वज्ञता की पूर्ण ज्ञान-ज्योति जगमगा उठेगी। हम-तुम सब इस पथ के पथिक हैं। मंजिल पर पहुंचना ही है।'

'मैं अब इसी वीतराग परमात्म पथ पर अग्रसर हो रहा हूँ।'

भाई भर्तृहरि के प्रस्थान के उपरान्त आचार्य शुभचन्द्र स्वयं भी तपाराधना में लीन हो गए। जब मन कुछ हल्का होता तो उसके निग्रह के लिए और भव्य जीवों के कल्याणार्थ 'ज्ञानार्णव' का प्रणयन करते।

स्वाध्याय परम तप है।

★

१- अभयदान

★

जीवन की बाजी पर अभयदान

अपहृत राजकुमारी अनंगसरा के शीलप्रताप से यद्यपि अपहरण-कर्ता विद्याधर उसका शील भंग नहीं कर सका, किन्तु खीझकर उसे भयानक अटवी में छोड़ गया। इस भयंकर वन में फलों पर निर्भर रहकर तपस्या करते वर्षों बीत गईं।

एक दिन अनंगसरा को अजगर सर्प निगल रहा था, कि उसके पिता चक्रवर्ती त्रिभुवनानन्द ने यह देखकर धनुषवाण से अजगर को मार डालना चाहा। किन्तु अनंगसरा ने पिता को समझाया। 'पिताजी इस नश्वर शरीर की रक्षा के लिए आप एक पचेन्द्रिय प्राणीकी हत्या क्यों कर रहे हैं? अन्ततः एक दिन तो इस नश्वर शरीर को छोड़ना ही है, मैंने समाधि मरण ग्रहण कर लिया है। मुझ से मोह छोड़ कर इसे अभयदान दीजिए।'

आखिर अजगर अनंगसरा को निगल गया। अगले जन्म में अनंगसरा का जीव राजकुमारी विशल्या हुआ जिसके कि स्नान के जल से ही सारे रोग नष्ट हो जाते थे।

—:※:—

शूकर का अभयदान

मालवा भारत के स्वर्णातीत में अपनी अनोखो आभा रखता है। किसी युग में यह धार्मिकता का केन्द्र रहा था।

बहुत प्राचीन काल में मालवा प्रदेश में घटगांव नामक एक वैभवशालो नगर था। इसमें धर्मिल नाम का एक नाई और देविल नाम का एक कुम्हार रहता था। ये उभय व्यक्ति मित्र

थे। उन्होंने विशुद्ध परिणाम होने पर एक धर्मशाला बनवाई थी, जिसमें आकर यात्री ठहरते थे।

एक दिन शाम को देविल ने एक निर्ग्रन्थ मुनिराज को इस धर्मशाला में बड़ी भक्ति भावसे ठहराया। फिर वह चला गया। जब धर्मिल आया तो उसने मुनिराज को धर्मशाला में देख कर उन्हें दुत्कारा और धर्मशाला से निकाल दिया। मुनि ने मान कषाय को जीत लिया था, वे समताभावी थे। अतः चुपचाप चले आए और एक वृक्ष के नीचे आकर ध्यान माढ़ लिया।

जब प्रभात में देविल आया, तो उसने यह सारा हल देखा। उसे धर्मिल पर बड़ा ही रोष आया। वे (देविल और धर्मिल) आपस में लड़ने लगे। आर्त ध्यान में उनकी मृत्यु हुई। स्वभावतः वे त्रियंच गतिमें अवतरे। धर्मिल व्याघ्र हुआ और देविल शूकर। ये उभय जन्तु विन्ध्य के वनों में विचरते थे। एक बार शूकर ने दो मुनियों—गुप्त और त्रिगुप्तिगुप्त को एक गुफा में देखा। उसे जातिस्मरण हो गया। उसने मुनियों से उपदेश सुना। तदनुसार मन में कुछ अखण्ड व्रत भी लिए। व्याघ्र को मुनियों के शरीर को महक लगी, और वह उनके भक्षणार्थ उधर आया। व्याघ्र को आते देख शूकर समझ गया कि यह दुष्ट मुनियों के वध को आरहा है। अतः वह मुनियों की रक्षा हेतु सन्नद्ध हो गया।

लो, दोनों में कैसी झपटे होने लगी। दोनों ही हृष्ठ-पुष्ठ, परन्तु आपस में जूझ कर मरे। लेकिन शूकर के परिणाम शुभ थे। उसने साम्य भाव से मुनि की रक्षा में अपने प्राण उत्सर्ग किए थे। अतः उसे उसके त्याग का पुरस्कार मिला सौधर्म स्वर्ग में देवत्व, अनेक ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ एवं कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यालयों आदि को वन्दना के शुभ अवसर। इसके विपरीत व्याघ्र को हिंसक परिणामों से मिले नर्कों के रौरव दुःख जहां यातना ही यातनाएं सुख का नाम निशां भी नहीं। त्याग वीर परोपकार एवं कर्तव्य पालन में अपने अमूल्य प्राणों की बाजी लगा देते हैं धन्य शूकर और उसका महान त्याग !

२-आहारदान

★

उत्तमोत्तम सत्पात्र को वह प्रथम आहारदान

दीक्षोपरान्त भ० ऋषभदेव ने आत्मशुद्धयर्थ छः माह के उपवास का व्रत लिया। परन्तु लाभान्तराय के उदय से योग्य दानदाता के अभाव में उन्होंने पुनः छः महीने की तपस्या का व्रत ले लिया। धर्म ध्यान करते हुए उनकी यह अवधि भी बीत गई। वे विहार करते हुए कुरुजांगल प्रदेश के महा नगर हस्तिनापुर में आए, जहाँ कुरुवन्शी राजा सोमप्रभ राज्य करते थे। सोमप्रभ के अनुज पवित्रात्मा कुमार श्रेयान को भगवान के शुभागमन पर पूर्वाभास सुमेरु, कल्पतरु आदि सप्त मंगल स्वप्नों से हो गया था। साक्षात् धर्म सुमेरु भ० ऋषभदेव जनता के जयनिनादों के बीच उनके मन्दिर में पधारे तो युगल भाई भगवानका मंगल दर्शन कर उनके श्रीचरणों में विनत् होगए। कुमार श्रेयान्का मानस भगवान के सुगुण-सरोवर को देख इतना हर्षातिरेक से झूम उठा कि उन्हें जातिस्मरण हो गया और उन्होंने पूर्व भव मे चारणमुनियों को जो आहार दिया था उसी विधि से श्रद्धा, भक्ति, विज्ञान, अनुलुब्धता, क्षमा, त्याग सप्त गुणों के साथ सविनय आह्वान-पड़गाहन, उच्चासन, पदप्रक्षालन-ग्रहण, अष्ट द्रव्य से पूजन, त्रय प्रदक्षिणा व नमस्कार, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, भोजन शुद्धि रूप नवधा भक्तिपूर्वक भगवानका सत्कार किया व मन वचन काय की शुद्धि से ताजे पौंड़का रस (इक्षु रस) का आहार दिया। दानदाता एवं पात्र की अतिशय विशुद्धता से राजभवन पर देव दुंदुभिनाद, जयनाद, पुष्प वृष्टि, रत्न वृष्टि, शीतल मन्द सुगन्ध पवन का बहना—ये पंचाश्चर्य प्रकट हुए। राजा श्रेयान ने उस दिन अतिशय पुण्य का सचयन किया और इस कल्पकाल के आदि में दान तीर्थ की प्रवर्तना

की वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था जो अक्षय आहार दान के कारण अक्षय तृतीया का शुभ पर्व कहलाया।

पुण्यवान कुमार श्रेयान अपने धर्माचरण व आत्मशुद्धि-पथ का अनुगमन करते हुए युगादि देव भ० ऋषभनाथ से भी पहले मोक्ष पधारे। धन्य थे वे।

आज जब भौतिकवाद के प्रबन्ध अधिक घनीभूत होते जा रहे हैं तब भी राजा श्रेयान व अक्षय तृतीया का यही अमर सन्देश है कि दान, दाता, द्रव्य व पात्र की विशुद्धता से युक्त होना चाहिए। किसी कषाय से अनुप्रेरित होकर दिया गया दान निरर्थक ही नही दुष्फलदायी भी है।

दासी का आहार-दान

महिलाओं की दुर्दशा इस जमाने में ही नहीं पुराने जमाने से चली आरही है। लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व तत्कालीन उत्तर भारत का व्यापार-केन्द्र प्रमुख नगर कोशाम्बी दासों का प्रमुख हाट (बाजार) था। मनुष्य ही नहीं दासी महिलाएँ भी खुले आम ढ़ोर पशुओं के समान बेचीं जातीं थीं।

एक दिन सेठ वृषभसेनने करुणाबुद्धि से एक तिरस्कृत किन्तु रूपवती चन्दना दासीको खरीद लिया। चन्दना यद्यपि एक कुलीन कन्या थी किन्तु दुर्भाग्य से दुराचारी अपहरणकर्ताओं ने उसे शील धर्म पर आरूढ़ रहने के कारण उससे परेशान होकर उसे दासत्व की दुर्दशा पर पहुँचा दिया था।

सेठ के घर पर आकर चन्दना बड़ी ही श्रमशीलता से प्रत्येक काम करने लगी, जिससे सेठ जी बड़े प्रसन्न हुए।

यद्यपि सेठजी सच्चरित्र सत्पुरुष थे किन्तु सेठानी के स्त्री हृदय को यह आशंका हुई कि वे चन्दना पर अनुरक्त हुए जा रहे हैं, अतएव उसने चन्दना के केश मुड़वा दिये, पुराने फटे वस्त्र तन ढ़कने को दिए और चौबीस घन्टों में कुछ भीगे हुए कोदों अन्न को देने लगी। इतना ही नहीं उसने चन्दना के हाथ

पैरों में बेड़ियाँ भी डलवा दीं।

सेठ अपनी हठी सेठानी के स्वभाव से परिचित था। वह कर्कशा गृह-स्वामिनी के सामने प्राय: माध्यस्थ रहता। ठीक ही है सज्जन विपरीत वृत्ति वालों के प्रति उदासीन रहते ही हैं। किन्तु सेठजी की उदासीनता सेपवित्र हृदया चन्दना तो बन्धन में ही पड़ी थी।

एक दिन पूर्वाह्न में बन्दी चन्दना ने नैपथ्य में 'मुनिराज महावीर की जय' के निनादपूर्ण जय-घोष सुने। उसी समय उसे भोजन भीगा हुआ कोदों अनाज मिला था। उस समय उस भव्य हृदया के भाव ऋषिराज महावीर को आहार दान कराने को उमड़ पड़े। लेकिन उसके पास था क्या? मात्र कादों अन्न! किन्तु अगाध श्रद्धा भक्तिभाव से उसे ही समर्पित करने का वह समुद्यत थी।

राजा सेठों के द्वारों को छोड़ते हुए आज दलितोद्धारक मुनिराज महावीर ईर्यापथ साधते हुए अर्थात् मार्ग मे त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा करते हुए चले आ रहे थे। चन्दना ने पास आते ही मुनिराज को पड़गाहते हुए आह्वान किया। मुनिराज कुछ ठिकके, किन्तु फिर आगे बढ़ गए। मानो मुनिराज के अभिग्रह में कोई आभाव रह गया था।

दुखिया चन्दना यद्यपि बन्धन और दासत्व के दुख उठाती जर्जरित हो रही थी, किन्तु उसे मुनिराज के निराहार चले जाने से महान मार्मिक अन्तर्वेदना हुई जो शायद उसे दासत्व और बन्धन में भी नहीं थी। वह फूट-फूट कर रोने लगी।

उसका करुण आक्रन्दन योगिराज महावीर के कर्ण कुहरों में पड़ा और वे प्रत्यावर्तन कर उठे। जैसे उनका कोई अपूर्ण अभिग्रह पूर्ण हो गया था।

हाँ, उन्हें दासत्व प्रथा से हृदय में टीस थी; उनके सकरुणचित्तमें दलित नारी के उद्धारकी भावना हिलोरें लेरही थी। अत: उनका आज का आहार के लिए व्रतपरिसंख्यान अभिग्रह

था— यदि कोई बन्दी नारी जिसके केश मुड़े हुए हों एवं वह रोती हुई होगी, तो मैं उसके हाथ का आहार ग्रहण करूँगा।

दासी चन्दना को अब रोते देख मुनिराज महावीर लौट आए, और हार्दिक भक्ति भाव की कद्र करते हुए उन्होंने तिरस्कृता बन्दी चन्दना के हाथ से आहार ग्रहण किया।

मुनिपुंगव महावीर जैसे सत्पात्र को आहार देना महा पुण्य कार्य था। चन्दना की नवधा भक्ति का प्रवाह भी आनन्द के साथ आवाधित वह रहाथा। देखतेदेखते उसकी बेड़ियाँ स्वयं टूट पड़ीं, उसके हाथों कोदों अन्न सुस्वाद व्यंजनों में परिणत होगया। आकाश में देव दुंदुंभिनाद, पुष्प बृष्टि, रत्नवृष्टि, जय-जय नाद और शीतल मन्द सुगन्ध बायु का बहना रूप पंचाश्चर्य प्रकट हुए।

दान में दातार की भावनाओं का विशेष महत्व है। नगण्य होते हुए भी भावों की परम विशुद्धि के कारण चन्दना का आहार-दान उसके उद्धार का साधन बन गया।

मुनिश्रेष्ठ महावीर ने एक दासी के हाथ से आहार लेकर सम्भ्रान्त वर्ग में एक क्रान्तिकारी तहलका मचा दिया। परिणाम यह निकला कि बिना प्रयास के हो लोक में समता एवं मानवता की प्राण-प्रतिष्ठा हो गई।

त्याग में द्रव्य की अपेक्षा भावों की ही विशेष महिमा है। तभी ता दासो चन्दना द्वारा दासत्व और बन्धन की अवस्था में भी उसके अतिशय विमल भावों के प्रभाव से, द्रव्य की अपेक्षा न कुछ हाते हुए भी महामानव सत्पात्र मुनिवर महावीर के प्रति किया हुआ आहार-दान इतिहास की स्वर्णाक्षरों में अंकित की जाने वाली एक अमर घटना ही बन गया।

३- ज्ञान-दान

★

ज्ञान-दान की प्रेरक आलोक-धारा

'ज्ञान समान न आन जगत में सुख का कारण।' अतः सम्यक्-ज्ञान का ही अतिशय प्रसार होना चाहिए।'

'तो सम्यक-ज्ञान का प्रचार कैसे हो ?'

'पहले तो ज्ञानियों का सत्संग करके या स्वाध्याय द्वारा अपना अज्ञान मिटाना चाहिए। फिर लोक में भव्य जिज्ञासुओं में इसका उन्मुक्त हृदय से वितरण किया जाना चाहिए।'

'जैसे कि अकलंक महाराज ने किया।'

'हां वे अकलंक और निकलंक दोनों भाई ज्ञानार्जन हेतु, बौद्ध विहार में गए और अपने जीवनों की बाजी लगा दी। निकलंक तो मौत के घाट उतर गए। किन्तु भाग्य वशात अकलंक बच निकले, फिर उन्होंने जीवन पर्यन्त सम्यक ज्ञान की ही अलख जगाई।'

'यथार्थ ही ज्ञान-दान सर्वोपरि है। क्योंकि यह आत्मा-ज्ञान का पुञ्ज ही है। शरीर आदि तो जड़ पुद्गल हैं। सो यदि किसी भी जीव को उसके ज्ञान-कोष की खबर करादी जाय, तो उसका अज्ञान रंकपन दूर होकर आत्मसमृद्धि रूप हित मार्ग उद्घाटित हो जाता है।'

'निश्चय से तो ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, भला वह क्या वितरित किया जा सकता है। किन्तु संसारी जीवों के ज्ञान-गुण पर छाए अज्ञान कर्मावरण को हटाने में निमित्त पड़ने को ही व्यवहार में ज्ञान-दान कहा जाता है। इस महत कार्य में जो भी सहायक होते हैं, वे सब ज्ञान-दान में ही परिगणित किए जाते हैं।

'हाँ यह तो ठीक है, जिसका स्वयं का क्षयोपशम इतना नहीं कि दूसरों को पढ़ा सके, तो भी जो ज्ञानियों की सहायता करता है, ज्ञान के उपकरण पुस्तक - शास्त्र, शास्त्र के वेष्ठन, शास्त्र रखने का अलमारी आदि की व्यवस्था करता है, वह भी प्रकारान्तर से ज्ञान दान ही है।'

'विद्यालय खुलवाना, छात्रवृत्तियाँ देना, ग्रन्थों को जुटाना, प्रकाशित करना, वितरण करना, पठन-पाठन, प्रवचन आदि ज्ञान दान में ही गिने जावेंगे।'

'लेकिन इस समय ज्ञान-दान की धारा बड़ी विकृत हो रही है। एक तो ज्ञानियों का आभाव है, दूसरे 'नाम' का भूत इस समय लोगों पर इतना छाया हुआ है कि अब 'ज्ञान-विज्ञान-वाङ्मय' की अपेक्षा 'नाम वाङ्मय' अधिक प्रचलित है।'

'हां जिनके पास न श्रद्धा है, न ज्ञान है और न चरित्र किन्तु केवल भेष त्यागी साधु का बना लिया और फिर क्या अपने जीवन-चरित्रों की भरमार ही कर दी।'

'इसके अलावा भौतिकवादी विचार धारा तथा हिंसा और विषय-कषाय के पोषक साहित्य का ही धड़ल्ले से बेरोकटोक प्रचार हो रहा है। जीवन-निर्माण-कर्ता आत्म-हित-साधक सम्यक ज्ञान प्रकाशनों की बड़ी विरलता है।

'धार्मिक क्षेत्र में जो ज्ञान दान होता है उसमें भी बड़े पक्षपात हैं। फिर जहाँ एकान्त का आग्रह है, उसमें सम्यक ज्ञान का दूर का रिश्ता भी नहीं।' इस कलिकाल के विश्रुत श्री-धरसेनाचार्य भगवन्त भूतिबली पुष्पदन्त, आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी स्वामी समन्तभद्राचार्य, पूज्यपाद देवनन्दयाचार्य, अमितिगत्याचार्य, नेमिचन्द्राचार्य जैसे अनेकानेक ज्ञानी ऋषि-पुंगव का भी अब पूर्णतः सद्भाव कहाँ?'

'अब तो अधिकांशतः गृहस्थ ही विद्वान देखने को मिलते हैं, जिनकी कि कथनी और करनी में प्रायः जमीन आसमान का फर्क पाया जाता है। इसीलिए उनकी वाणी का जनता पर

कोई असर नहीं होता।'

'लेकिन फिर भी ज्ञान-दान की इस रुढ़ि परिपाटी में श्रुत ज्ञान का संरक्षण और उसके समीप्य का अवसर तो मिलता हीहै, फिर ज्ञानपुरुषार्थ जागृत करना तो प्रत्येक जीव का अपना निजी कार्य है। उसे वह साधे और आत्म-हित करें।'

'हां अगिणत धर्मात्माओं ने व्रताराधना के उपरान्त शास्त्र लिखाया, छपा कर श्रुत ज्ञान की परिपाटी को चलाया है। मूढ़बद्री की सिद्धान्त-वसदि में 'विराजित जयधवल महा धवल, आगम-ग्रन्थराज किसी भव्यात्मा द्वारा व्रतोद्यापन में लिखाये गए थे।

'लेकिन आज और तो और अभी कुछ दिन पूर्व हुए अपने युग के ही सन्त गणेशप्रसाद वर्णी जैसी न तो ज्ञान की जिज्ञाषा ही है और न वैसा उदात्त ज्ञान-दान ही है।'

'हां सम्यक ज्ञान के प्रसंग में गणेशप्रसाद जी वर्णी के नाम की चर्चायें तो बहुत रहीं, मैंने भी कुछ सुना किन्तु फिर भी उनके विषय में कुछ बताइयेगा। इस वर्ष (सम्वत २०३१) तो उनकी जन्म शताब्दी भी मनाई जा रही है।'

'जी गणेशप्रसाद जी को बाल-जीवन से ही ज्ञानार्जन की तीव्राभिलाषा थी। वे अपनी ज्ञान-पिपसा शमन करने जयपुर बम्बई, वाराणसी आदि न जाने कहां-कहां की खाक छानते फिरे!'

'कहते हैं बनारस में तो उन्होंने छात्र-जीवन में ही स्याद्वाद विद्यालय की नींव डालदी थी, और उसी में स्वय पढ़े भी थे।'

'हां, यह सम्यकज्ञान इतिहासमें छात्र द्वारा विद्यालय स्थापन की एक अमर घटना बन गई। क्वीन्स कालेज काशी के मुख्याध्यापक श्री जीवननाथ जी मिश्र के निवास स्थान पर छात्र गणेश पहुंचा और एक रुपया भेंट करते हुए निवेदन किया— 'महाराज! मुझे न्याय-शास्त्र पढ़ना है आपके बताए हुए समय परआ जाया करूंगा।'

मिश्रजी ने पूंछा—'कौन —ब्राह्मण हो ?'

गणेश का निर्भीक उत्तर था—'न मैं ब्राह्मण, न क्षत्रिय—वैश्य हूँ। कुलधर्म से राम का उपासक था, पर मेरे पिता व मेरा विश्वास जिनधर्म में दृढ़ हो गया।'

नैयायिक मिश्री जी एकदम आवेग में आगए। रुपया फेंकते हुए बाले 'जाओ यहां से, हम नास्तिकों को नहीं पढ़ाते। तुम्हारे साथ सम्भाषण भी प्रायश्चित का कारण है।'

छात्र गणेश ने इन दुर्वचनों का गरल-पान किया, किन्तु साथ ही नैयायिक विद्वान का यह भी जता दिया कि उनका आचरण सभ्यता एव मानवता के प्रतिकूल है।

इस अपमान कारक घटना से गणेश को मार्मान्तिक वेदना हुई, वह विचारने लगा — यह समय की बलवत्ता कि जिस धर्म के प्रवर्तक सर्वज्ञ सर्वदर्शी अर्हन जिनेन्द्र और जिस नगरी में तीर्थङ्कर पार्श्व-सुपार्श्व का जन्म हुआ, आज उसी नगरी में जैनों का इतना तिरस्कार !

छात्र म्लान मन मन्दाकिनी की कोठरी में आकर रुदन करने लगा। पर एकाकी रादन को सुनने वाला कौन था ?

भगवान पार्श्वनाथ जी का स्मरण करता हुआ अपनी मार्मिक वेदना उनके प्रति निवेदन करता हुआ सो गया, सोते स्वप्न में देखता है एक भद्र मानवाकृति उससे कह रहा है—क्यों भाई उदास क्यों हो ?

उसने कहा—'आपको क्या पता कि मैं उदास हूँ।'

'तुम्हारी विवर्ण मुखाकृति बिना कहे ही सब बता रही है।'

'अच्छा आपकोई हमारे हितैषी हो प्रतीत होते हैं। तो सुनिए मैं सुनाता हूँ। और उसने नैयायिक मिश्र द्वारा अपमान करने की घटना सारी सुना दी।

'रोने से निराश होने से तो कोई कार्य नहीं सधता। पुरुषार्थ से जब मोक्ष लाभ तक हो जाता तो फिर भला विद्या लाभ कौन बड़ी बात है ?' — अपने हितैषी बाबा भागीरथ जी को बुलाओ,

उनकी सहायता से पाठशाला खोलने का प्रयत्न करो. तुम्हारा मनोरथ श्रुत पंचमी तक अवश्य पूर्ण होगा।' पश्चात छात्र गणेश की आँख खुल गई वह भगवान पार्श्वनाथ का ध्यान करने लगा। उपरान्त विश्वनाथ मन्दिर के दृश्य-दार्शनार्थ चला। मार्ग में एक श्वेताम्बर विद्यालय मिला। यह उसमें प्रवेश कर अध्यक्ष धर्मविजयसूरि से मिला। उन्हें बताया कि वह काशी संस्कृत का अध्ययन करने आया है और साथ ही नैयायिक मिश्र के साथ घटी कल की अप्रिय घटना को भी कह सुनाया। यह सुन कर अध्यक्ष जी ने सम्वेदना प्रकट की। और 'तुम धैर्य रखो हमारे विद्यालय में प० अम्बादास शास्त्री न्यायशास्त्र के बहुत ही योग्य विद्वान हैं. उनसे न्याय का गहन अध्ययन करना।' गणेश उनकी अध्यापन शैलीसे बड़ा प्रभावित हुआ। विद्यालय की पढ़ाई के पश्चात वह शास्त्री जी के साथ उनके घर गया। बड़े प्रेम से उन्होंने गणेश को पढ़ाने की स्वीकृति देदी। छात्र की बांछें खिल गईं, जैसे अन्धे को आँखें मिल गईं हो।'

'छात्र गणेश ने स्वप्न में निर्देशित बाबा भागीरथ जी को बुलाया कि नहीं ?'

'हां क्यों नहीं ? बाबा जी आगरे थे, उन्हें पत्र देकर बुला लिया। अब एक से दो हो गए। प्रेरक छात्र गणेश वर्णी उनके साथ दिगम्बर जैन विद्यालय स्थापन करने की ही योजनाएँ बनाता। इन योजनाओं को सुन कर श्री झम्मनलाल जी कामदार ने विद्यालय की सहायता के लिए एक रुपया विद्या-दान दिया। गणेश ने रास्ते में ही ६४ पोस्ट कार्ड खरीदे और रातभर में लिख कर ६४ स्थानों के जैन धीमान श्रीमान नेताओं को भेज दिये। पोस्ट कार्ड क्या थे गणेश की मर्म-वेदना की मूर्त हार्दिक आवाज ही थे। भला हार्दिकता के विशुद्ध प्रतिवेदन का सुपरिणाम क्यों न होता ? बड़े ही आशा जनक उत्तर आए। साथ ही १००) मासिक सहायता के वचन भी मिले। श्री प० पन्नालाल वाकलीवाल को भी पत्र लिखा वे भी आगए।

काशी में एक जैन संस्कृत विद्यालय की महती आवश्यकता है, यही इनकी चर्चा का विषय था और इसी का ये लोग पत्र-पत्रिकाओं में प्रचार कर रहे थे।'

'यहभी भाग्यकी बात समझो, जो किसी ने विरोध नकिया।'

'श्रेयांश बहुविघ्नानि' की उक्ति के अनुसार ये भी अक्रियाशील लोगों के निराशाजनक कटाक्षों से मुक्त न थे। छात्र गणेश के पास कितने ही स्थानों से इस आशय के पत्र भी आए कि आप लोगों ने यह क्या आन्दोलन मचा रखा है। काशी जैसे स्थान में दि० जैन विद्यालय का होना अति कठिन है, जहाँ कोई सहायक नहीं, जैन मत के प्रेमी विद्वान नहीं, वहाँ आप लोग हमारा उपहास ही करायेंगे।'

किन्तु छात्र गणेश अपने भागीरथ प्रयत्नों से विचलित न हुआ। इसने स्व० सेठ देवकुमार जी आरा एवं स्व० सेठ माणिक चन्द्र जी जे० पी० बम्बई तथा मूलचन्द्र जी सर्राफ बरुआ सागर को भी पत्र लिखे। बम्बई से सेठ साहब ने उत्तर दिया कि वे विद्यालय के उद्घाटन उत्सव पर उपस्थित होंगे। सर्राफजी ने ड़ेढ़ हजार नगद देने का वचन दिया।

जैन श्रुतज्ञान के विश्रुत पर्व जेष्ठ शुक्ल पंचमी जो कि श्रुत पंचमी, कहलाता है, के पुण्यदिवसपर स्याद्वाद विद्यालय का उदघाटन दिवस नियत किया गया। कुम्-कुम् पत्रिकाएँ बांट दी गईं। ज्यों-ज्यों मुहूर्त निकट आता गया त्यों-त्यों अनुकूल कारण मिलते गये। महारौनी के पं० वंशीधरजी, गोविन्दराय जी तथा एक नए छात्र के आने की सूचना आ गई। बम्बई से सेठ माणिकचन्द्र आरा से बाबू देवकुमारजी, देहली से श्री ला० मोतीलालजी तथा श्री अजितप्रसादजी एडवोकेट लखनऊ आदि नेतागण बाहर से ज्येष्ठ सुदी ४ को ही आगए। उद्घाटन से ही पूर्व उपस्थितजनों ने पूछा —'पंडितों का क्या प्रबन्ध है ?'

छात्र गणेश का उत्तर था —'मैं शास्त्री श्री अम्बादास जी से न्याय पढ़ता हूँ। १५) मासिक छात्रवृत्ति मुझे बम्बई से सेठ

जी साहब से मिलती है, वही मैं उनके चरणों में अर्पित कर देता हूँ। उन्हें २५) मासिक देने चाहिए, वे तीन घण्टे को आ जावेंगे। सबने स्वीकारोक्ति की। २०) मासिक पर व्याकरणाचार्य और इतने पर ही एक साहित्य अध्यापक भी मिल गया। सुपरिण्टेण्डेण्ट श्री दीपचन्द्र जी वर्णी नियत हुए। छात्र गणेश को मिला कर उद्घाटन के दिन कुल चार छात्र थे। वी० नि० सवत २४३२ एवं विक्रम स० १९६२ की श्रुतपंचमी को प्रातःकाल श्री मंदागिनी में सर्व प्रथम भगवान पार्श्वनाथ जी स्वामी का अष्टद्रव्य से पूजन हुआ उपरान्त गाजे-बाजे के साथ श्री स्याद्वाद विद्यालय काशी का उद्घाटन श्रेष्ठिवर्य माणिकचन्द्र जी के कर कमलों द्वारा अपूर्व उत्साह से सानन्द सम्पन्न हुआ। बा० शीतलप्रसाद जी ने प्रतिज्ञा की कि मैं आजीवन विद्यालय की सहायता करूंगा, और समय-समय पर आकर निरीक्षण करूंगा। बाद में आप ब्रह्मचारी हो गए, किन्तु विद्यालय पर समुदार रहे। वर्षों विद्यालय के अधिष्ठाता भी रहे। पठनक्रम क्वीन्स कालेज का रहा। विद्यालय को समाज से खासी सहायता मिलने लगी और देश के प्रत्येक प्रान्त से इस में अध्ययनार्थ छात्रगण आने लगे। पं० वंशीधर, पं० माणिकचन्द्र, पं० देवकीनन्दन आदि विद्वान इस विद्यालय के ही छात्र थे।'

'अर्थात स्याद्वाद विद्यालय सम्यक् ज्ञान-दान का एक अच्छा धर्मायतन बन गया है।'

'जो, ...श्री वर्णीजी ने उपरान्त काल में पूरे उत्तर भारत में भ्रमण कर स्थान-स्थान पर अनेक गुरुकुल विद्यालय आदि खुलवाए। इन से ज्ञान-दान की अजस्र धारा ही बह रही है।'

'भाई ज्ञानेशजी! आज आपके इस सत्संग से मैं तो अतिशय लाभान्वित हुआ हूँ। आपका यह सदुपदेश रूप ज्ञान-दान मेरे लिए अविस्मरणीय रहेगा।'

'अरे भाई जिज्ञासकुमार जी आपसी चर्चा में मैंने क्या ज्ञान-दान कर दिया। मैंने तो अपना कर्तव्य पालन किया।

आपके विचारों से भी तो मैं उपकृत होता हूं।'

'ठीक है 'परस्परोपग्रहो जीवानां' जीव परस्पर एक दूसरे का उपकार करते ही हैं और करना भी चाहिए।'

'मनुष्यका सबसे बड़ा शत्रु उसका अज्ञान है, उस अज्ञानको मिटाने में सम्यक ज्ञान-दानकी आलोकधारा बहुत कामकरती है।'

'अतः सम्यक ज्ञान-दान की आलोक धारा का निरन्तर ही प्रवहमान रखें, इससे आत्मा का परम हित होगा।'

४- औषधि-दान

★

बन्दर का औषधि-दान

एक दिन श्रीकृष्ण राय ने एक रुग्ण एवं कृषकाय मुनि को देखा तो करुणा व भक्ति से प्रेरित हो अपने वैद्य मुनि के रोग का निदान कराकर प्रासुक औषधि तैयार कराई। वह आहार में दी, जिसमे उनके यहाँ पंचाश्चर्य हुए। ... मुनिजी नीरोग होगए।

एक दिन जब श्री कृष्णराय अपने राज्यवैद्य के साथ तीर्थंकर नेमिनाथ जो के समवशरण में जा रहे थे, तो मार्ग में वे ही मुनिराज मिले। नारायण कृष्ण ने मुनि से स्वास्थ्य की कुशलता पूछी। तो निस्पृह मुनि बोले--'शरीर नाशवान है, उसकी कुशल क्षेम क्या ? ज्ञानी को आत्मा पर लक्ष्य रखना चाहिए।' इस उत्तर से एक ओर जहाँ श्रीकृष्ण जी को अमित प्रमोद हुआ, वहाँ राजवैद्य अपनी औषधि की प्रशंसा न सुनकर मुनि का कृतघ्न समझ अति रौद्र परिणामों को प्राप्त हुआ और इन्हीं परिणामों से मरकर त्रियञ्च योनि में पहुंच कर बन्दर हुआ। वही मुनिराज वृक्ष तले तपस्या कर रहे थे, बन्दर उस पर कूदा तो डाली टूटकर गिरी जिससे मुनि के शरीर पर घाव हो गया। पास आकर जब उसने यह दृश्य देखा तो उसे जातिस्मरण हुआ और वह अपने कलुषित भावों की निन्दा करता हुआ मुनिराज की वैयावृत्य में लग गया। जड़ी-बूटियां लाकर उनके

घाव पर लगाई । और कुछेक दिनों में मुनिराज को ठीक कर दिया। मुनिराज के उपदेश से उसने अणुव्रत गृहण किए और सन्यास मरण कर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ । ऐसा औषधि-दान का अपूर्व महात्म्य है।

त्याग की महत्ता

एक साधु महात्मा 'रमता जोगी बहता पानी' की कहावत चरितार्थ करते एक नदी के किनारे आए। नदी पार जाने के लिए नाव लगती थी। नाव का किराया एक पैसा था। महात्मा अपरिग्रही थे तथा कभी किसी से दीन वचन नहीं कहते थे। अतः उन्होंने नदी के इस पार ही रहने का विचार किया। इतने में एक सेठ आया और बोला— 'महात्मा जी यहां कैसे रुक गए ! महात्मा ने कहा—'बेटा ! नाव में बैठने के लिए एक पैसा चाहिए हम इस द्रव्य उपाधि से रहित हैं, अतः इस ओर ही रात काटने का विचार कर लिया है।

सेठ ने निवेदन किया, 'पैसे की कोई बात नहीं, आप नाव पर बैठिए।' महात्मा और सेठ दोनों नाव पर बैठ गये। सेठ ने दो पैसे नाव वाले को दे दिए, जब नाव से उतर कर दोनों ही दूसरो ओर पहुँच गये, तब सेठ ने कुछ अभिमान में आकर महात्मा जी से कहा—'आप अधिकतर त्याग का उपदेश देते हैं, यदि आपके समान मैंने भी त्याग किया होता तो आज क्या दशा होती ? अतः आज से त्याग की बात छोड़ो।' महात्माजी ने मुस्कराते हुए कहा— 'बेटा ! यदि नदी पार हुई है तो दो पैसे के त्याग से ही हुई है। यदि हमने गृहस्थी का त्याग न किया होता तो तू कदापि हमें नदी पार कराने के लिए नहीं कहता तथा एक पैसा अधिक नाविक को भी नहीं देता। पैसे अन्टी में रखे रहने से नदी को कैसे पार किया जा सकता था ?' सेठ चुप रह गया। अब वह मन ही मन त्याग की महत्ता को समझता हुआ हृदय से उसकी सराहना कर रहा था तथा अपनी भूल का अनुभव कर रहा था।

आकिंचन्य धर्म के आलोक में कहानी

★ **मन्मथ** ★

झोपड़ियों का छोटा संसार। ग्राम—ग्राम नहीं, नगला (छोटा गांव) इसी में रहते हैं कुछ ग्वाले। ग्वालों में एक है मन्मथ। जिसके बाह्य परिस्थितियों के अनुसार आगे नाथ न पीछे पगहा, अकेला, बिल्कुल अकेला निर्द्वन्द।

अमावस्या की निविड़ रात। दो पहर गए। मन्मथ की झोपड़ी में चिराग जल रहा है। पास ही एक टूटी-टाटी खाट पर वह पड़ा है। न कुछ बिछाने को न कुछ ओढ़ने को। परन्तु उसके चिराग के पास उसकी चिरकमाई — घी की एक मलैया (अड़ी) रखी है। उसके शरीर पर फटे पुराने गन्दे से वस्त्र हैं, जो अन्धकार की कालिमा में और भी घनीभूत हो रहे है। पर दरबाजे पर एक गाय बँधी है। पूरे नगले में सब के सब सो रहे हैं। वह भी लेटा है। परन्तु गहन निद्रा में नहीं अर्द्ध निद्रित है। उसके मन का मन्थन हो रहा है। वह सोच रहा है—सोच ही नहीं रहा, साकार आकांक्षाओं का महल बना रहा है।

घास छाल छील कर कुछ पैसे इकट्ठे किए, उसने ली बकरी बकरी का दूध बेच कर पैसे जोड़े, उससे ली यह गाय, अब उसका घृत भी इकट्ठा होगया। इसकी आमदनी से लूँगा भैंस। भैंस के सहारे आय बढ़ेगी—बस फिर तो धीरे-धीरे आमदनी बढ़ती ही जायेगी। मेरे पास काफी धन हो जायेगा तो बनवाऊँगा महल। महल में रहकर मैं राजा कहलाऊँगा। फिर ब्याह करूँगा। हां, फिर मेरी स्त्री होगी रानी! वह मेरे पैर दावेगी तो मैं उससे पैर झटक कर रोष करूँगा।

लो, उसने सचमुच ही पैर झटक दिया। वह लगा घी की मलैया में। मलैया गिर गई घी फैल गया। परन्तु मन्मथ वेखबर अपने सुख स्वप्नों में मग्न। लेकिन घी रेंगता हुआ चिराग तक पहुंच गया। वह आगे स्थान न पाकर वहीं इकट्ठा होने लगा।

होते-होते चिराग की लौ तक आगया और आग लग गई। झोपड़ी के फूस में भी आग इतनी तेजी से फैली कि मन्मथ भी झोपड़ी से न निकल पाया। वह भी उसमें जल उठा! झोपडी चिता के समान जलने लगी। उसमें से उमड़ घुमड़ कर लपटें निकलने लगीं। सारा नगला जल गया। मन्मथ को कौन बचाए सब प्राण लेकर भागे। येनकेन प्रकारेण आग तो बुझी परन्तु मन्मथ अब चन्द क्षणों का महमान था।

मन्मथ की आकाँक्षाओं का महल ढह गया। यद्यपि वास्तव में उसके पास न महल था और न रानी, किन्तु फिर भी उसके अन्तर में इच्छाओं के परिवार का कोई पारावार न था। अनन्त इच्छाओं का मानस मूर्छा रूप आन्तर परिग्रह के घटाटोप ने उस जलते हुए मन्मथ को और भी जलाया, शीतल न किया। शीतल शांति आकांक्षाओं में नहीं, उनके त्याग में, आकिंचन्य मे है।

उत्तम आकिंचन्य धर्म

'महाश्रमण! आपने कहा कि जहाँ भीतर-बाहर चौबीस प्रकार का किंचिन्मात्र भी परिग्रह नहीं, वही आकिञ्चन्य धर्म है, कृपया यह तो बताइये कि वह चौबीस प्रकारका परिग्रह क्या है?'

शिष्य का समाधान करते हुए महाश्रमण बोले—'वत्स! चौदह प्रकार का अन्तरंग परिग्रह है मिथ्यात्व; क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, दश प्रकार का बाहरी परिग्रह है—क्षेत्र, मकान, चाँदी, सोना, गो-महिष, धन, धान्य, दासी-दास, कपड़े, वर्तन। अन्य वस्तुएँ इनमें ही गिनी जा सकतीं हैं। आकिंचन धर्म सुखका कारण है। तृष्णा दुख है। इच्छारूपी फाँस तन-मन को सालती है, इसीसे 'चाह लँगोटी की दुख भालै' सही है। वस्तुतः निर्ग्रन्थ मुनिपद शाश्वत सुखका स्रोत है। मुक्ति हेतु इसे ही अङ्गीकार करना चाहिए। और यदि वर्तमान में मुनि होने की शक्ति नहीं, तो घर में ही तृष्णा को घटना चाहिए और धन को परोपकार में लगाना ही इष्ट है।'

ब्रह्मचर्य धर्म पर आधारित ऐतिहासिक कहानी

★

वही पिता वही नाना

★

उस दिन चारों ओर नगर में वाद्य-वादन हो रहा था। प्रत्येक पुरुष उत्सव मना रहा था। दानशालाओं में दान उन्मुक्त हाथों बांटा जा रहा था। धनिक निर्धन सब की बाँछ खिल उठीं थीं। राज प्रासाद पर ध्वजाएं बन्दनवार लहरा रहे थे। अन्तःपुर रमणियों के गानों से गूँज रहा था। परिचायिकाएँ, कार्य में निरत, फिरंगी की तरह नाच रहीं थीं।

सान्ध्य समय। नगर के सार्वजनिक उद्यान पर खड़े कुछ सम्भ्रान्त नागरिक आपस में बात-चीतकर रहे थे।

'क्यों जी! आज क्या उत्सव है, जो इतनी खुशियाँ मनाईं जा रहीं हैं।' --एक नागरिक दार्शनिक-सा बोला।

'आप किस कन्दरा में रहते हैं, जो आपका यह भी नहीं मालूम कि आज क्या है?'—दूसरे नागरिक ने कहा।

तीसरे नागरिक ने वस्तु स्थित बतलाते हुए कहा 'राजकुमार के घर पुत्री ने जन्म लिया है, उसी का यह रागरंग है।'

'ऐं ...... राजकुमार के पुत्री हुई है—इस पर इतना बड़ा महोत्सव।'—जैसे सोते से जाग कर एकाएक प्रथम नागरिक ने कहा।

'हाँ भाई, यही तो राजरङ्ग है।' दूसरे नागरिक ने गम्भीरता से कहा।

'पुत्र होता तो वह भी बात थी। .. राजा बड़ा विलासी है।' —तीसरा नागरिक बोला।

यों ही, टीका टिप्पणी की बातें करते-करते रात हो गई। वे रजनी के सघन अन्धकार में अपने-अपने घर की ओर जाते हुए विलीन हो गए।

× × ×　　　× × ×　　　× × ×

एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा यों ही दिन बीतते गए। सप्ताह निकल गए। मास निकल गए। सालें बीत गईं। लगभग १५-१६ वर्ष हो गईं कि आज वह नवजात पुत्री—राजकुमारी केतुमती— युवावस्था में प्रवेश कर चुकी।

समय बीतते देर नहीं लगती।

वह पूर्ण सुन्दरी थी। जैसे स्वयं अप्सरा बन अवतरित हुई हो। उसके सस्मित मुख पर चमकती हुई बत्तीसी, बड़ी-बड़ी आंखें, काले-काले, लम्बे-लम्बे नागिन-से केश आदि सब कुछ एक नवयुवक के लिए यथेष्ट आकर्षण थे।

सावन का सुहावना दिन था।

अस्ताचल की ओर सूर्य का रुख हो चुका था। राजकुमारी जल क्रीडार्थ राजवाटिका के सरोवर के पास बैठी थी। वह चपल किशोरी सखियों के साथ जल में किलोलें करने लगी।

सम्राट केतु राजमहल के उच्च शिखर पर बैठे-बैठे यह सब अलसित नयनों से देख रहे थे। वे राजकुमारी के उस रूपलावण्य को मन्त्र मुग्ध से लोभित नेत्रों से निरख रहे थे, जो अस्तावसन्न रवि की स्वर्णिम किरणों से आलोकित हो रहा था। उसका सखियों के बीच में चञ्चलता का अट्टहास राजा के अन्तस में गुदगुदी उत्पन्न कर रहा था।

हाय! यह वासना पिशाचिनी कितनी दुराचारिणी है, जो मानव को अन्धा बना कर अर्थ का अनर्थ तक करा डालती है। यह लोकाचार भी नहीं देखती। निदान राजा के हृदय में राजकुमारी—कन्या, अपनी निजकी कन्या, अपने ही रक्त-पिण्ड के प्रति कुत्सित विचार उठने लगे। काम कितना दुर्निवार गर्हित पर मादक होता है। पता नहीं चलता कि वह कब मानव की मानसभूमि में उत्पन्न हो जाता है और उत्पन्न हो कर क्या से क्या करा डालता है?

ओहो! दुर्निवार काम की यह कैसी विडम्बना है कि पिता

पुत्री को प्रेयसी-पत्नी बनाना चाहता है। उसके हृदय में सर्वदा यही द्वन्द चलता रहता है, किस प्रकार राजकुमारी को पत्नी बनाए, रानी–पट्टरानी बनाए! कैसे अपनी वासनात्मक पशु-पिपासा को शान्त करें? रात-दिन वह इसी उधेड़-बुन में रहने लगा।

कुछ दिनों के बाद एक दिन वह प्रफुल्ल हो उठा, जैसे कोई महा अगम्य समस्या सहज गम्य हो गई हो। हां समस्या—जटिल समस्या, उसके हृदय को सालने वाली चिन्ता—सुलझ गई थी, उसे युक्ति जो मिल गई थी।

युक्ति क्या थी?

पाठक वृन्द! इतने आकुल न हों, आपको ज्ञात हो जायेगा, इस कामुक हृदय की क्या युक्ति है।

× × ×

कुमारी केतुमती के अनुपम सौन्दर्य की चर्चा समस्त देश में फैल चुकी थी। उस नवयौवना के रूप-लावण्य से ऐसा कौन था, जो अवगत न हुआ हो?

राजा आकुल था कि कब प्रात हो और कब राज दरबार में पहुँचे तथा कब मन्त्रियों से अपनी युक्ति पर मन्त्रणा करें और कब केतुमती के साथ सुख का संसार सजाए।

प्रभात भी हुआ। राजा मद में चूर मदान्ध-सा उठा और राज दरबार में जाने के लिए उद्यत होने लगा!

उधर वह निरीह किशोरी रमणी प्रभाती गाती हुई शौचालय एवं स्नानागार की ओर जा रही थी। उसके नैसर्गिक मधुर स्वर में कितना भोलापन था—कहा नहीं जा सकता।

कितना अन्तर था इन दोनों में, पिता-पुत्री में। एक में वासना की बू थी, दूसरे में भोले पन की सरल मुस्कान। पर ओह, आज यह अन्तर मिटने जा रहा था, लुप्त होने जा रहा था—जैसे इस संसार में इनका पिता-पुत्री का सम्बन्ध था ही नहीं।

राज-दरबार सूर्योदय के कुछ पश्चात ही प्रारम्भ हो गया था। राजा उन्मत्त-सा दिखलाई पड़ रहा था। उसकी आँखों से मदान्धता झलक रही थी। सामने वेश्याओं का नृत्यगान हो रहा था। उनके हाव-भाव, अङ्गभंगिमा, मादक स्वर पर आज वह मुग्ध नहीं था। वह तो किसी आवश्यक कार्य करने को नर्तकियों का नृत्य कहने भर को देखता हुआ मदांध हाथी-सा झूम रहा था जैसे बोतलों सुरापान कर गया हो।

सम्राट की यह दशा देख मन्त्री सशंकित थे, मानों कोई महान अनर्थ घटने जा रहा हो।

नृत्य बन्द हुआ। राजा का स्वप्न भी समाप्त हुआ। वह सहसा ही जैसे एकाएक जागकर उच्च स्वर में बोला–'मन्त्री' …

'क्या आज्ञा महराज' …. ….

'तुम जानते हो—संसार की सबसे सुन्दर वस्तु किसके लिए होती है ?'

'जी महाराज ।'

'तो बताओ –

राज्य के लिए कि राजा के लिए ?'—राजा ने उत्तेजना में पूछा।

मन्त्री मन्द स्वर में बोला—'वही महाराज के लिए। स्वामी राज्य तो महाराज का ही है।'

'तो संसार की सर्वसुन्दर वस्तु पर मेरा अधिकार है न ?'

'क्यों नहीं, महाराजाधिराज ?'

'हाँ तो संसार की सर्वसुन्दरी कौन है ?' —राजा ने कहा।

मन्त्री अवाक् रह गया। समस्त राजकीय लोगों के नेत्र एकटक सम्राट की ओर लग गए—जैसे अन्धेर होने जा रहा हो।

अन्धेर। हाँ अन्धेर ही तो होने जा रहा था।

राजा बोले—'मन्त्रिवर। मौन क्यों ?'

राजमन्त्री बात बनाकर अपराधी-से बोले—' … कुछ नहीं सोच रहा था संसार में सर्व सुन्दरी कौन है ?'

'तुम्हें यह भी नहीं मालूम कि संसार में किसकी सौन्दर्य-कीर्ति-कौमुदी छिटक रही है ?'

मन्त्री एक दम चौंक पड़े। वे किंकर्तव्य विमूढ थे, उत्तर और क्या था ? -झक मारकर बोले-'सर्व सुन्दरी तो राजकुमारी केतुमती हैं ?'

'तो फिर......' सम्राट उत्सुक-से पूर्णाशा में कह गए।

एक दम पन्द्रह-बीस उपस्थित लोगों में सन्नाटा छा गया। मन्त्री तिलमिला उठा। क्या आज उसके ही हाथ यह अभिशाप बदा था ? उसने उत्तर दिया —

'परन्तु महाराज, वह तो आपकी कन्या है।'

'परन्तु किन्तु क्या ? मैं तुम से घर का न्याय नहीं कराता। मैं राज दरबार में राजकीय कार्यों पर विचार कराता हूँ।'

'तो क्या कुमारी केतुमती आपकी रानी ... - रानी ... ..'

'रानी नहीं पट्टरानी।'

'महा अन्याय।'

'अन्याय नहीं न्याय; राजनीतिज्ञ !'

यह पेट सब कुछ करा लेता है। दुर्बल मन्त्री को अन्याय के समक्ष नत होना पड़ा। मन्त्री मूक हो गया।

दूसरे दिनसे सम्राट कुमारी केतुमती के साथ रँगरेलियाँ कर निकले। कुमारी केतुमती सम्राज्ञी केतुमती होगई। जो कलतक पिता था वह आज पति बन बैठा। अब का कैसा विषमजाल है ? कैसी छलना है जो कल तक पुत्री थी वह अपनी मां की सौत ही क्या पट्टरानी बन गई—क्या यही दुनिया है ? कोई कहे तो किससे कहे ? जब नृप ही अनीति बर्तने लगे, तो बताओ न्याय कहां ? सब गुप चुप भर्त्सना करते पर प्रत्यक्ष कोई कुछ नहीं कहता, कुछ चारा ही न था।

× × ×

कुछ काल बीत गया। दोनों विलासिता के पुतले राग के रँग में रँगे रहते थे। पिता पुत्री—अब पिता-पुत्री क्यों—राजारानी

ने वासना रस को छक कर पिया और क्या उन्हें यह भी मालूम था कि एक दिन उनका यौवन-उन्माद पुत्र के रूप में बन कर खेल उठेगा ? किन्तु कुछ समय पश्चात रानी केतुमती के गर्भ से पुत्र जन्म हुआ ।

पुत्र कार्तिकेय क्रमशः धीरे-धीरे द्वितिया के चन्द्र की भांति बढ़ने लगा । और धीरे-धीरे १०-१२ वर्ष का हो गया ।

एक दिन वह बालकों में खेल रहा था । उसकी चपलता, उसकी कुशाग्रता, उसका व्यक्तित्व सब कुछ निराला था, जो कि उसके कृत्यों से क्षण-क्षण प्रदर्शित हो रहा था । अन्य सब किशोर बालक उसका लोहा मानते थे ।

खेल चल रहा था कि एक छोटा-सा बालक जो कुमार कार्तिकेय के एक साथी का भाई था, प्रसन्नता के साथ भागा चला आ रहा था कि 'भय्या चल, भय्या चल, नाना आए है ।'

कुमार का सखा भी 'अच्छा नाना आए है' कहता हुआ घर की ओर दौड़ गया । उसका छोटा भाई भी साथ हो लिया। कुमार के अन्य साथी भी अपने-अपने घर चले गए । कुमार रह गया । वह भी राजप्रासादों की ओर चिन्तातुर-सा चल दिया । कुमार को चिन्ता क्या थी ? वह क्या सोचता जा रहा था? राजकुमार—जिसके लिए विलासिता की किसी भी वस्तु का आभाव नहीं, वह क्यों चिन्तातुर या शोकातुर हो गया ?

राजकुमार सीधे मां केतुमती के पास पहुंचे, जाकर प्रणाम किया और अपनी चिन्ता—अपने प्रश्न को जो अभी मार्ग में उठा था, पूछ बैठे—

'मां नाना किसे कहते हैं ?' —एक किशोर जो तरुणाई में प्रवेश करने जा रहा था जो बुद्धिमान था और था अनेक कलाओं विद्याओं में पारंगत, वह यह भी नहीं जानता था कि नाना किसे कहते है कितना भोला ? जानता कहां से उसने नाना को कभी बाहर से न आते देखा था और न कभी नाना के घर ही गया था ।

'क्यों बेटा ! आज यह प्रश्न क्यों किया ?

... 'तेरी मां के पिता ही ....' कहती हुई केतुमती रुक गई।

'कहो न माता रुक क्यों गई ? हमारे नाना क्यों नहीं आते ?'

कार्तिकेय भोला था फिर भी समझदार था। उसे बह-काया नहीं जा सकता था।

केतुमती उत्तर कुछ न दे सकी। वह अनन्त अदृश्य आकाश की ओर आंखें फाड़-फाड़ कर देखने लगी कि उसके नेत्रों से अविरल अश्रु टप-टप झरने लगे। देखते-देखते आसुओं की झड़ी लग गई, मानों किसी घनीभूत अन्तर्वेदना की बरसात होरही थी।

कुमार भयभीत हो उठे। वह यह दृश्य देख विस्मय से आ-श्चर्यचकित हो रहे थे। ढ़ाढ़स बांध कर पूँछा —

माँ तुम्हें क्या होगया है, फूट-फूट कर क्यों रो रही हो ?'

पुत्र के वचनामृत को विमल धारा से वे शीतल-सचेष्ट हो सकीं। उसका गला अवरुद्ध हो चुका था। कुछ देर बाद बोली।

'बेटा ! मेरे प्यारे बेटा !! मेरी आंखों के तारे !!! क्या तुझे बताऊँ क्या तुझे सुनाऊँ अपनो, हां अपनी गाथा ... पापों की कहानो। वही नाना वहो पिता, हां हां तेरे पिता ही तेरे नाना — और अब मत सुनो। अरी री पृथ्वो ! क्यों नहीं फट जाती, क्यों नहीं धस जाती, क्यों नहीं मुझ पापिनी कुलकलंकिनी को अपने आंचल में क्यों नहीं कर लेती। हाय ! आज अपना ही सौन्दर्य अपने लिए अभिशाप बन बैठा, जो इस पापिनी को नर्क में भी डर नहीं, कहती हुई यह मूर्छित सी हो गई।

कुमार का हृदय माता की यह दशा देख कर दहल उठा। वह अब सब कुछ समझ गया, सब कुछ जान गया, रहस्य खुल गया। एकदम उस में अज्ञात परिवर्तन हो उठा। उसका मुख आरक्त हो गया। उसके ललाटसे गम्भीरता का सागर उमड़ा पड़रहा था। उनकी अन्तरात्मा से यह शब्द निकल पड़े—'मांसल सौन्दर्य कितना बड़ा अभिशाप है ?'

संसार बहता पानी है। न कोई किसी का पुत्र; न कोई

किसी की कलत्र, न कोई किसी की माता, न कोई किसी का पिता। संसार के सब रिस्ते झूठे हैं। सब जगह स्वार्थ ही स्वार्थ है—इन्द्रिय-लिप्सा, वासना की मृगतृष्णा है। इसीसे मां! इससे निष्कृति पानी है। इससे छुटकारा पाना है। मां अब इस मोह-निद्रा से जागो, दासता के शत्रुओं को मार भगाओं, उठो उठो मां उठो!'

वह माता को उठाने लगा। मां अब सचेष्ट थी।

'तो मां, पिता जी को उस समय उनके दुष्कर्म से रोकने वाला कोई भी न था?'

'हां, बुद्धिमान मन्त्री जी एवं जैन साधु-मुनियों ने तुम्हारे पिता को बहुत समझाया। किन्तु वे ठहरे राजा, सो उनके राजत्व के दर्प के सामने मन्त्री आदि और मेरी क्या चलती?'

'मन्त्री जी तो विवेकवान हैं ही। वास्तव में राजा के सामने उनकी चलती भी क्या? लेकिन जैन साधु-मुनि कौन क्या थे, जिन्होंने ऐसी न्यायपूर्ण धर्म की आवाज उठाई थी।'

'बेटा! वे जैन मुनि दिगम्बर मुद्रा धारी थे। वे पवित्रता-वैराग्य की प्रतिमूर्ति ही होते हैं और मोक्ष की साधना करते हैं।

'आत्मा से सर्व प्रकार के पाप मैल से मुक्त करना ही तो मोक्ष है। तो मैं भी दिगम्बर नग्न मुनि बन कर इस जन्म को सफल करूंगा।'

'बेटा, यह मार्ग तो अति कठिन है। ······· लेकिन बेटा, मेरा क्या होगा, मैं तो महा पापिनी हूं?'

'पापिनी? मां, गतं न सोचन्ति हि बुद्धिमन्तः—अब आगेकी सुधि लो, बीते को विसार दो। जीवन भगुर है, इस का सदुपयोग कर लो। देखो पिता जी की कैसी दुर्गति हो रही है। शरीर रोगी और सब तरफ से प्रताड़ताए। मनुष्य के किए पाप पुण्य सब आगे आते हैं।—चाहे इस जन्म में या अगले जन्मों में। मुझे तो संसार के इस अभिनय को देख कर विरक्ति हो गई

है। मैं संसार में कुछ सार नहीं देखता। मां अब मुझे आत्मा और लोक का कल्याण करना है। मां दो आज्ञा —मैं जाता हूं। तुम्हारे वरद हस्त मेरे ऊपर हों।....उसकी आत्मा कितनी निर्मल थी। पिता-पुत्र की आत्मा में कितना अन्तर था?

मां इकटक वत्स की ओर देख रही थी। उसके अन्तर से वात्सल्य उमड़ा पड़ रहा था, उसे जीवन से विरक्ति हो चुकी थी। उसको कुमार की बातों में सार दिखा। इसी से उसके मुख से निकल पड़ा—'जाओ, वत्स सफल हो।'

वह कहते-कहते कह गई! किन्तु मां की ममतामई हृदय हिलोरें लेने लगा। परन्तु मोहजयी होने की कोशिश कर रही थी। वह भले ही वह स्वयं पतित हो किन्तु पुत्र की पवित्रता चाहती थी।

जाते हुए कुमार ने विनय पूर्वक माँ को प्रणाम किया और कहा, 'माँ तुम भी अब संसार के बन्धनों से मुक्त होने का प्रयत्न करो? माँ क्षमा करना, अपने इस अकिंचन पुत्र को।'

कुमार चल दिये। केतुमती देखती रह गई। उसने भी कहा 'मैं भी कर्तव्य करूंगी। भवसागर से पार उतरूंगी।'

× × ×

वर्षे बीत गईं। युग बीत गए। पर सत्कार्य अब भी हैं नए। वेही कुमारमुनि कार्तिकेय जी हुए महान ऋषि आचार्य कार्तिकेय स्वामी। उनकी कीर्ति-कृति 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' जिसमें कि बारह भावनाओं का मार्मिक विवेचन हुआ है, आज भी उपलब्ध है और न जाने कितने भव्य जीवों ने उसे पढ़ा होगा, और उससे शिक्षा ली होगी और ले रहे हैं तथा भविष्य में पढ़ कर प्रेरणा प्राप्त करेंगे। निश्चय ही इस भौतिकवादी कलिकाल में राजसीय भोग विलासों के लुभावने आकर्षणों के बावजूद भी जिसने उठ उभरती हुई जवानी में भी परम वीतरागी मुनिमुद्रा धारण की उन बालब्रह्मचारी श्री स्वामी कार्तिकेयजी ब्रह्मचर्य प्राप्ति-हित-हेतु प्रेरणा-स्रोतही बनगए। शत-शत वन्दन!

'महाकवि, आपने मेरी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया। लगता है विक्रम की यह सोलहवीं शताब्दी भी समाप्त हो जायेगी तथा मेरी मनोकामना पूरी न होगी। इस बार तो मेरी हार्दिक भावना है कि भद्र भाद्र मास में परम पावन पर्यूषण पर्व पर आपके द्वारा लिखी हुई दश लाक्षणिक धर्म की जय गाथा गाऊं—पढ़ूं और अपनी भावनाएं पवित्र करूं। आशा है आप अवश्य ही मेरी अभिलाषा पूरी करेंगे।'

'वत्स होलू ! तुम्हारी धर्म वत्सलता एवं विनय से मैं सदैव गद्गद् हो जाता हूं। शायद तुम्हारा आग्रह और प्रेरणा मुझे दश लाक्षणिक धर्म पर लिखने को बाध्य करेगी ही। लेकिन …'

' लेकिन क्या, कविश्रेष्ठ, कुछ मेरी सेवा की आवश्यकता हो, तो निःशकोच कहिए, मैं तत्पर हूं।'

'नहीं, तुम्हारी सेवा की बात नहीं, मेरा यह आशय है कि मैं अत्यन्त संक्षेप में रचना लिख पाऊंगा।'

'ठीक है, आप तो गागर में सागर भर देते हैं।'

और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि होलू के कथनानुसार महा कवि रइधू ने 'दशलाक्षणिक धर्म जयमाला' ऐसी सारपूर्ण रचना रच डाली कि यथार्थ ही गागर में सागर ही भर दिया।

अपने पिता खेमसिंह से भी अधिक बढ़कर विनयवान होलू महाकवि का सत्संग करता ही रहता था। ज्यों ज्यों वे काव्य में दश धर्मों के मर्म का उद्घाटन करते जाते, त्यों-त्यों उन्हें पढ़कर होलू अति ही प्रसन्न होता रहता। होलू की दृष्टि में विचार साफ सुलझे हुए सात्विक होने चाहिए—भाषा कैसी भी हो। लेकिन रइधू तो अपभ्रंश के सिद्धहस्त कवि थे। भाषा

सुथरी व सरल। एक दिन जब रचना परिसमाप्ति के करीब थी तो होल्हू ने कहा —

'हे कवि रत्न जी, इस रचना के द्वारा आपने मेरे भावों को अतिशय पवित्र करने का निमित्त जुटाया है, यह मेरे ऊपर महान उपकार किया है।'

'विनय मूर्ति होजू! तुम्हारे प्रेरणा ने मेरे मानस पर दश धर्मों की छाप ही बिठा दी है। इनके प्रणयन में मैंने जिनागम के दश धर्म विषयक उपदेश के तल में बैठने का चिन्तन किया है। फलत: मेरा धर्मध्यान स्थिरहुआ और यह दशधर्मकी रचना हुई।

'आप जैसे सत्पुरुष श्रीमान की यह महत्ता ही है। जो आप मुझ सामान्य ग्रहस्थ को इतना महत्व दे रहे हैं। वैसे सच बात तो यह कि मैं ही क्या आगामी काल में न जाने कितने भव्य जीव दश धर्मों के इस वणन को पढ़-सुन कर लाभान्वित होंगे। अपना ज्ञान-वर्धन ही नहीं; अपितु आत्म-कल्याण भी करेंगे। आप जैसे धर्मात्मा कवीश्वर धन्य हैं।'

'ओहो, होलू तुमने तो प्रशंसा के पुल ही बाँध दिए। — लेकिन सत्य ही मेरे तो भाव इतने निर्मल हो रहे हैं, कि म मुनि बन कर इन धर्मों को आत्म-सात करूँ।'

'सचमुच आप ठीक कह रहे हैं, कविराज! ये दशलाक्षणिक धर्म यथा विध तो मुनिराज ही पाल सकते हैं।'

'अब तो आपने दशों धर्मों का पृथक-पृथक वर्णन खूब स्पष्ट और महत्वपूर्ण कर दिया, अब अन्त में सारपूर्ण उपसंहार और लिख दीजिए।'

'हाँ उपसंहार में मैं दशधर्मों को कल्प-वृक्ष की उपमा देना चाहता हूँ।'

'हाँ सच ही ये धर्म मनवाञ्छित फल और मोक्ष फल देने वाले कल्पतरु ही हैं। आपने ठीक सोचा। आप अवश्य ही यही लिखिये—मुझे अभी से पढ़ने की उत्कंठा हो गई है।'

'हाँ मैं इसे आज ही पूरा कर दूंगा।'

× × ×

दूसरे दिन प्रातः ही होलू देव-पूजन, गुरूपासनोपरान्त कविराज जी के सानिध्य में जा पहुंचा। वे हाथ में पाण्डुलिपि लिए हुए थे। बोले— 'अरे भाई होलू तुम आ गए। मुझे तो पूर्वाभास रूप विश्वास था कि तुम अवश्य ही आ रहे होंगे।'

'भला मैं क्यों न आता—धर्म कल्प तरु की कौन बात न सुनेगा ? मैं तो जीवन में इसके ही सेवन करने की बात सोच रहा हूं।'

'होलू तुम निकट भव्य भासित होते हो। हां तो मैंने जो कुछ लिखा उसका सार यह है, कि इस धर्म कल्पतरु की भूमि क्षमा है। अर्थात् क्षमातल पर यह वृष-वृक्ष खड़ा है। मान रहित मृदुता सहित मार्दव इसके कोमल कोंपल हैं। सरलता के समान इसकी लम्बायमान सीधो शाखा रूप आर्जव धर्म है। धर्म के मूल के समान सत्य-शौच इसकी जड़े हैं। फैलावसदृश संयम धर्म इसके हरे पत्र हैं एवं इसका पुष्प है तप धर्म। साथ ही कीर्ति विस्तारक त्याग धर्म इसका मधुर पराग हैं, जो दूर-दूर तक फैल रहा है।

भव्य हृदय मानव-देवगण विद्याधर पक्षि-वृन्द हैं, जो इस पर मुग्ध होकर क्रीड़ा करते हैं। धर्म कल्पतरु का स्तम्भ है। आकिञ्चन्य धर्म, जिस में परिग्रह का त्याग या परिमाण किया जाता है, तप धर्म कल्पवृक्ष का मानों तना ही है। ब्रह्म अर्थात आत्मा की चर्या करना ब्रह्मचर्य है। यह संतप्त विषय-कषायी जीवों को शान्त करने वाला है, शीतलता का सर्जक है। अत: मैंने इसे छाया रूप में प्रदर्शित किया है।

इस धर्म कल्पतरु को शीतल छांह में सम्यक दृष्टी जीव आश्रय पाते हैं। भविक जनों द्वारा इस धर्म कल्पतरु की रक्षा होनी चाहिए। अहिंसामयी दया धर्म का पालन करते हुए इस धर्म कल्पतरु तले ध्यान का निवास बनाया जाना चाहिए। मिथ्यात्व का वमन कर देना चाहिए। नितप्रति ही इसे धर्म-

भाव धारा से अभिसिंचित करके इसे पुष्ट करना चाहिए। जिससे कि जीव का हित हो।'

'सचमुच ही चित्त प्रसन्न हो गया आपने तो धर्म कल्पतरु का सांगोपांग ही वर्णन कर दिया है। ....'

'यह तो मात्र वर्णन है। निर्ग्रन्थ मुनिराज जंगम धर्म कल्पतरु हैं। इसी से वे जहां विहार करते, वहीं तीर्थ का निर्माण हो जाता है।'

'हां यह तो है ही आपने अन्तिम छन्द में क्या भावना भाई है ?'

वे इस धर्म महा कल्पवृक्ष का सेवन करते हुए क्रोधाग्नि को मिटा दो, गम्भीर बनो, इसकी आराधना करके ऋषिराज मोक्ष पधारे हैं। संसार के ताप को यह शमन करने वाला और यह आश्रयकर्ताओं अनुचरों को मधुर मिष्ठ मोक्ष फल देने वाला है।

'यथार्थ ही कवि श्रेष्ठ संसार के भीषण संतापों का नाशक शाश्वत सौख्य प्रदायक यह दशलाक्षणिक धर्म अतिशय महिमामयी कल्याण कारक धर्म कल्पतरु ही है।'

कविरत्न रइधू और श्रद्धाल होलू जैसे भव्रजल इस धर्म कल्पतरु की महत्ता आँक कर इसका सहज सेवन करते ही हैं।

कविवर रइधू ने दश धर्म पर रचना हीनहीं रची, वरन इन्हें आत्मसात करके वे दिगम्बर-धर्म-कल्पतरु ही बन गए।

